

‘भारतीय आधुनिक शिक्षा’ राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की एक त्रैमासिक पत्रिका है। इस पत्रिका का मुख्य उद्देश्य है शिक्षकों, शिक्षक-प्रशिक्षकों, शैक्षिक प्रशासकों तथा शोधकर्ताओं को एक मंच प्रदान करना, शिक्षा के विभिन्न आयामों जैसे-शिक्षादर्शन, शिक्षा मनोविज्ञान, शिक्षा की समकालीन समस्याएं, पाठ्यक्रम एवं प्रविधि संबंधी नवीन विकास, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा का स्वरूप, विभिन्न राज्यों में शिक्षा की स्थिति आदि पर मौलिक तथा आलोचनात्मक चिंतन को प्रोत्साहित करना और शिक्षा के सुधार और विकास को बढ़ावा देना। लेखकों द्वारा व्यक्त किए गए विचार उनके अपने हैं। अतः ये किसी भी प्रकार से परिषद् की नीतियों को प्रस्तुत नहीं करते इसलिए इस संबंध में परिषद् का कोई उत्तरदायित्व नहीं है।

अकादमिक संपादक

राजरानी

अकादमिक संपादकीय समिति

रंजना अरोड़ा योगेश कुमार
किरण वालिया अनुपम आहूजा
एम.वी. श्रीनिवासन सुनीता कुमारी नागर (जे.पी.एफ.)

प्रकाशन विभाग के सदस्य

विभागाध्यक्ष नीरजा शुक्ला
मुख्य संपादक श्वेता उप्पल
संपादन ओम प्रकाश
उत्पादन सुनील कुमार

आवरण

अमित श्रीवास्तव

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैम्पस
श्री अरविंद मार्ग
नयी दिल्ली 110 016 फोन : 011-26562708

108, 100 फीट रोड
हेली एक्सटेंशन, होस्टेकेरे
बनाशकरी III इस्टेज
बंगलुरु 560 085 फोन : 080-26725740

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380 014 फोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैम्पस
धनकल बस स्टॉप के सामने
पनिहटी
कोलकाता 700 114 फोन : 033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स
मालीगाँव
गुवाहाटी 781021 फोन : 0361-2674869

मूल्य

एक प्रति : 50.00 रुपए वार्षिक : 200.00 रुपए

**परिषद् की 'भारतीय आधुनिक शिक्षा' एवं 'प्राइमरी शिक्षक'
त्रैमासिक पत्रिकाओं के ग्राहकों, पाठकों तथा लेखकों से निवेदन**

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की उल्लेखित दो त्रैमासिक पत्रिकाएं शिक्षा जगत में राष्ट्रीय स्तर तथा राज्य स्तर पर हो रहे अनेक प्रयोगों, अनुसंधानों, कार्यक्रमों व गतिविधियों को पाठकों तक पहुँचाने के सुगम माध्यम हैं। इन पत्रिकाओं का प्रकाशन विशेष रूप से विद्यालयी शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत शिक्षाविदों, शिक्षकों, शिक्षक-प्रशिक्षकों तथा पाठ्यक्रम निर्माताओं को समर्पित है। इनके प्रत्येक संस्करण में ऐसे नवीनतम लेखों के प्रकाशन को प्राथमिकता दी जाती है जो शैक्षिक नीतियों से संबंधित हों, गुणात्मक सुधार की दिशा में उल्लेखनीय प्रयोग हों, अधिगम को सुरुचिपूर्ण तथा ग्राह्य बनाने की दिशा में निजी अनुभव अथवा शोध कार्य हों, विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रमों के विवरण हों, शिक्षण-प्रशिक्षण संबंधी प्रभावी सामग्री हो। शैक्षिक उपयोगिता से ये पत्रिकाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं तथा परिषद् इन्हें मूल लागत से भी बहुत कम कीमत पर पाठकों को उपलब्ध कराती है।

इन पत्रिकाओं के लिए उत्कृष्ट स्तर के शिक्षाप्रद प्रभावी लेख सहर्ष स्वीकार किए जाते हैं तथा उनके प्रकाशन के उपरांत समुचित मानदेय देने की भी व्यवस्था है। लेख की विषयवस्तु 2500 से 3000 शब्दों में या अधिक टंकित रूप में होना वांछनीय है। यदि लेखक अपने लेखों के साथ सीडी या फ्लोपी और स्वयं का ई. मेल का पता भेज सकें तो सुविधा होगी। कृपया अपने लेख निम्न पते पर भेजें -

**विभागाध्यक्ष (पत्रिका प्रकोष्ठ), प्रकाशन विभाग
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
श्री अरविन्द मार्ग, नयी दिल्ली 110 016**

अध्यक्ष, प्रकाशन विभाग द्वारा राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविन्द मार्ग, नयी दिल्ली 110 016 के लिए प्रकाशित तथा द्वारा मुद्रित।

भारतीय आधुनिक शिक्षा

वर्ष 30

अंक 4

अप्रैल 2010

इस अंक में

संपादकीय		3
शिक्षा का विस्तार	- रवींद्रनाथ टैगोर	5
21वीं सदी में भारतीय शिक्षा व्यवस्था कुछ समस्याएँ कुछ समाधान	- सुनीता कुमारी नागर एवं अन्विति सिंह	14
सीखने का मिथक	- जॉन हॉल्ट	23
भारत में शिक्षा शोध की अवस्था	- शंकर शरण	30
शांति शिक्षा एवं विद्यालयों में शांति संस्कृति की अवधारणा—कुछ विचारणीय बिन्दु	- आलोक गार्डिया एवं पुष्पेश पाठक	45
अँग्रेजी शिक्षण	- एन.सी.ई.आर.टी.	52
सिनेमा का शैक्षिक संदर्भ	- विनोद अनुपम	84
विश्वविद्यालयों में हो रहे शोध कार्यों की गुणवत्ता उन्नयन हेतु प्रयास	- मोहम्मद यूनुस हुसैन एवं मोहम्मद इरशाद हुसैन	90
परीक्षा में नकल के कारणों का विश्लेषण एवं निदान	- अश्विनी कुमार गौड़	96
उच्च शिक्षा स्तर पर कार्यरत अध्यापकों की कक्षा शिक्षण दक्षता का अध्ययन	- रीना सिंह एवं दिनेश कुमार गुप्ता	102
पाठ्यक्रम अनकही 'जो कही सो कही पर कुछ अनकही भी रही'	- अनीता गुप्ता एवं मनीषा मिनोचा	111



संपादकीय

‘भारतीय आधुनिक शिक्षा’ का यह अंक विद्यालयी पूर्व शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक, शैक्षिक प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं से जुड़े लेखों को समेटे हुए है। अंक की शुरुआत रवींद्रनाथ टैगोर के निबंधों के संकलन से चुने गए एक लेख ‘शिक्षा का विस्तार’ से की गई है। आज से लगभग आठ दशक पहले गुरुदेव द्वारा एक संभाषण के रूप में कहे गये ये शब्द वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में गुणात्मक सुधार लाने और उसे जन-जन तक पहुँचाने में आज भी महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। वर्तमान सदी में भारतीय शिक्षा की कुछ समस्याओं और उनके समाधानों का जिक्र किया है सुनीता कुमारी नागर एवं अन्विति सिंह ने अपने लेख ‘21वीं सदी में भारतीय शिक्षा व्यवस्था—कुछ समस्या कुछ समाधान’ में। ‘सीखने का मिथक’ लेख के जरिये जॉन हॉल्ट ने सरल शब्दों में ‘सीखने’ संबंधी भ्रान्तियों को दूर करने का प्रयास किया है। लेखक ने स्पष्ट किया है कि ‘सीखना’ केवल किताबी ज्ञान अथवा विद्यालय तक ही सीमित नहीं है, सीखने के कोई विशेष अनुभव नहीं होते,

बल्कि हर अनुभव से हम कुछ न कुछ सीखते हैं।

अभी हाल ही में एक राष्ट्रीय समाचार पत्र में यह खबर छपी थी कि हमारे देश में अँग्रेजी भाषा बोलने/जानने वालों का प्रतिशत हिन्दी के बाद दूसरे स्थान पर है। अँग्रेजी हमारी विद्यालयी पाठ्यचर्या का हिस्सा भी है और बहुत से विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम भी। ‘राष्ट्रीय पाठ्यचर्या कि रूपरेखा 2005’ के अन्तर्गत गठित एक राष्ट्रीय फोकस समूह द्वारा लिखित आधार पत्र ‘अँग्रेजी शिक्षण’ को इस अंक में शामिल किया गया है जो यह मानकर चलता है कि अँग्रेजी भारत जैसे बहुभाषी देश में एक वैश्विक भाषा है और उसकी शुरुआत विद्यालयों में देर से मगर दुरुस्त तरीके से की जानी चाहिये। इस आधार-पत्र में विद्यालयी स्तर पर अँग्रेजी भाषा शिक्षण से संबंधित विभिन्न बिन्दुओं की विश्लेषणात्मक चर्चा की गई है। शैक्षिक प्रक्रिया को समझने व उसमें बदलाव लाने में ‘शोध’ अथवा ‘अनुसंधान’ महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। देश में शैक्षिक प्रक्रिया से जुड़े

शोध कार्यों की स्थिति पर विश्लेषणात्मक टिप्पणी की गई है शंकर शरण के लेख 'भारत में शिक्षा शोध की अवस्था' में। मोहम्मद यूनुस हुसैन एवं मोहम्मद इरशाद हुसैन ने अपने लेख में विश्वविद्यालयी स्तर पर हो रहे शोध कार्यों को बेहतर बनाने के प्रयासों की चर्चा की है। 'उच्च शिक्षा स्तर पर कार्यरत अध्यापकों की कक्षा शिक्षण दक्षता का अध्ययन' नामक शोधपरक लेख द्वारा रीना सिंह एवं दिनेश कुमार गुप्ता ने कक्षा में शिक्षकों द्वारा अपनाए जाने वाले विभिन्न व्यवहारों को दर्शाया है। एक अन्य शोधपरक लेख 'पाठ्यक्रम अनकही—जो कहीं सो कही पर कुछ अनकही भी रही' में अनीता गुप्ता एवं मनीषा मिनोचा ने दिल्ली राज्य में चल रहे नर्सरी शिक्षण प्रशिक्षण कार्यक्रम का संक्षेप में विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

इस अंक में शैक्षिक प्रक्रिया के कुछ अन्य महत्वपूर्ण मुद्दों से जुड़े लेख भी शामिल हैं जैसे विनोद अनुपम का लेख 'सिनेमा का शैक्षिक संदर्भ', जो यह बताता है कि शैक्षिक प्रक्रिया में सिनेमा का उपयोग करके कैसे उसे और भी प्रभावशाली व रोचक बनाया जा सकता है। आलोक गार्डिया और पुष्पेश पाठक का लेख विद्यालयों में शांति शिक्षा एवं शांति संस्कृति की स्थापना से जुड़े पहलुओं की चर्चा करता है। अश्विनी कुमार गौड़ ने अपने लेख में एक महत्वपूर्ण व गम्भीर समस्या 'परीक्षा में नकल' के कारणों का विश्लेषण किया है और उसे रोकने के लिए कुछ सुझाव भी दिए हैं। इस अंक में शामिल लेखों पर हम आपके विचारों का स्वागत करेंगे।

अकादमिक संपादकीय समिति

शिक्षा का विस्तार*

रवीन्द्रनाथ टैगोर

सभी को शिक्षा मिले इस बात पर हम लगातार जोर देते आ रहे हैं। इसके लिए अनेक कदम भी उठाए गए हैं और अब शिक्षा प्राप्त करना बच्चों का मौलिक अधिकार बन गया है। परन्तु शिक्षा से हमारा क्या तात्पर्य है? कैसे इसे जन-जन तक पहुँचाया जाए, विद्या शिक्षा से कैसे भिन्न है? शिक्षा में आधुनिकीकरण का वास्तविक अर्थ क्या है? शिक्षा के विस्तार के क्या-क्या साधन हो सकते हैं? शिक्षा क्या केवल उपाधि प्रदान करने के लिए दी जाए अथवा उसे जीवन से जोड़ा जाए आदि बिंदुओं पर चर्चा करता रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा फरवरी 1933 को कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिए गए भाषण का लिखित रूप में प्रकाशित यह लेख आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण और सार्थक प्रतीत होता है अतः पाठकों के लिए इसे यहाँ पुनः प्रकाशित किया जा रहा है।

भोग्य वस्तुओं का भण्डार जमा हो उठे, और रसोईघर में चूल्हे पर बर्तन चढ़ा हो, तो भी उसे भोज नहीं कहा जा सका। आँगन में कितनी पत्तल लगी है, कितने लोगों को न्योता दिया गया है, इसी में है भोज की मर्यादा। हम 'एज्युकेशन' शब्द को दोहराकर मन ही मन खुश होते हैं; लेकिन इसमें भी भण्डारघर का ही रूप है— बाहर आँगन सूना पड़ा है। स्कूल कॉलेजों में शिक्षा के आलोक के लिए बड़ी-सी लालटेन जलाई गई है। लेकिन वह आलोक यदि दीवारों से अवरुद्ध हो जाए तो यह हमारा दुर्भाग्य होगा।

चित्र की अभिव्यक्ति पृष्ठभूमि पर ही होती है; उसी तरह सारे देश की पृष्ठभूमि पर ही शिक्षा परिस्फुट हो सकती है। अपनी व्यापक पृष्ठभूमि से अलग होकर शिक्षा अस्पष्ट और असम्पूर्ण बन जाती है; केवल अभ्यासवश उसके दैन्य की वेदना हमारे मन को प्रभावित नहीं करती। 'एज्युकेशन' के संबंध में जब हम अन्य देशों के साथ स्वदेश की तुलना करते हैं तो समान बातों पर ही हमारा ध्यान जाता है। हम देखते हैं कि विदेशों में विश्वविद्यालय हैं, हमारे देश में भी इसके प्रतिरूप कुछ विश्वविद्यालय हैं। लेकिन

*'रवीन्द्रनाथ के निबन्ध' (भाग-1), [साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2004] से साभार प्रकाशित।

हम यह भूल जाते हैं कि ऐसा कोई देश नहीं है जहाँ विद्यालय के बाहर समाजव्यापी अनौपचारिक शिक्षा की विस्तृत परिधि न हो।

किसी समय हमारे देश में भी ऐसी परिधि थी। मध्ययुगीन यूरोप की तरह हमारे देश में भी शास्त्र-शिक्षा ही प्रधान थी। यह शिक्षा विशेष रूप से पाठशालाओं में दी जाती थी, लेकिन इस विद्या की पृष्ठभूमि सारे देश में व्याप्त थी। विशिष्ट ज्ञान और साधारण ज्ञान में नित्य आदान-प्रदान था। पंडित मंडली और अपण्डित जनता में 'ओसिस' और मरुभूमि जैसा वैपरीत्य नहीं था। देश का कोई अनादर प्राप्त भाग नहीं था जहाँ रामायण, महाभारत तथा पौराणिक कथाओं की धर्मव्याख्या न की जाती हो। यही नहीं, जनसाधारण की चित्तभूमि ऐसे तत्त्वज्ञान से सिंचित थी जिसके लिए कठिन अध्ययन आवश्यक होता है। पेड़ को जो खाद दिया जाता है यह यदि पानी से अच्छी तरह तरल हो जाए तभी पेड़ उसे अपनी शाखा-प्रशाखाओं में ग्रहण कर पाता है। किसी दिन हमारे देश में कठिन विद्या भी रस से विगलित थी और सर्वसाधारण का मन उससे संचारित था। सार्वजनिक निर्माण कार्य धर्म का ही अंग था। गाँव-गाँव में जलाशय बनाए जाते थे; लोग आपस में मिलकर स्वयं अपनी तृष्णा का उपाय करते थे, उसके लिए सरकारी कमेटी की जरूरत नहीं थी। उसी तरह देश की विद्या का भी समाज में अपने-आप वितरण होता था यदि ऐसा न होता तो आज सारा देश बर्बरता के अंधकार में निमग्न होता। उस समय विद्या विद्वानों की निजी संपत्ति नहीं थी... वह सारे समाज की संपदा थी।

एक दिन मुझे ऐसे सामान्य गाँव के किसानों ने निमंत्रित किया जहाँ अखबारों के पन्ने उलटने

की आवाज तक सुनाई नहीं पड़ती थी। अधिकतर लोग मुसलमान थे। मेरे स्वागतार्थ गाने-बजाने का आयोजन किया गया था। शामियाने में मिट्टी के तेल की लालटेन जल रही थी, बड़े-बूढ़े सभी चुपचाप बैठे थे। यात्रागान का मुख्य विषय था गुरु-शिष्य के बीच तत्वालोकन-देहतत्व, सृष्टितत्व, मुक्तित्व। बीच-बीच में नाच-गाने की झंकार सुनाई पड़ती थी। उस गान का एक विशेष अंश आज भी मुझे याद है। यात्री वृंदावन में प्रवेश करना चाहता है पहरेदार उसे रोकता है, कहता है—'तुम चोर हो, तुम्हारे लिए प्रवेश नहीं है।' वाह जी! कौन-सा माल चुराया है मैंने? द्वारपाल उत्तर देता है—'वह जो तुम्हारे वस्त्र के नीचे छिपा हुआ 'अपनापन' है वह तो हमारे राजा का माल है, तुमने उसे चुराकर रख लिया है।' अचानक ढोल जोर से बज उठता है, नाच शुरू हो जाता है, नाचने वाले के कृत्रिम लम्बे बाल हवा में चक्कर काटते हैं—मानो किसी पाठ के मुख्य अंश की ओर खींचकर अध्यापक महाशय ने पैसिल से डबल लकीर खींचकर ध्यान दिलाया हो। रात होने को है, दोपहर से गाना-बजाना चलता रहा है, श्रोतागण चुपचाप सुन रहे हैं। सब बातें समझें या न समझें, एक अजीब स्वाद उन्हें मिलता है जो दैनंदिन जीवन की नीरस तुच्छता को भेदकर एक ऐसा रास्ता खोल देता है जो उन्हें 'चिरंतन' की ओर ले जाता है।

देश में बहुत प्राचीन काल से ही यही होता आया है। लोगों ने एक विचित्र रसोपलब्धि के साथ कथाएँ सुनी हैं—ध्रुव-प्रह्लाद की कथा, सीता का वनवास, कर्ण का कवच दान, हरिश्चन्द्र का सर्वस्व त्याग। कितने ही दुःख थे, अविचार था,

जीवन यात्रा में पग-पग पर अनिश्चिता थी। लेकिन इन सबके के साथ-साथ शिक्षा का एक ऐसा प्रवाह भी था जो भाग्य की विमुखता के बीच मनुष्य को अपनी आंतरिक संपत्ति की ओर ले जाता था, जो मनुष्य की उस श्रेष्ठता का उज्वल परिचय देता था जिसे अवस्था की हीनता छोटा नहीं बना सकती। अमरीकी 'टाँकी' द्वारा और कोई काम भले ही हो, यह काम नहीं हो सकता।

अन्य देशों में इधर कुछ दिनों से अनिवार्य शिक्षा का प्रवर्तन किया गया है। हमारे देश की जनशिक्षा को अनिवार्य नहीं बल्कि स्वैच्छिक कहा जा सकता है। ऐसी शिक्षा दीर्घकाल से चली आई है। उसके पीछे कभी कोई कानून नहीं रहा, कोई जबरदस्ती नहीं रही। उसका स्वतः संचार घर-घर में होता रहा, जैसे—सारे शरीर में रक्त प्रवाहित होता है।

समय बदल गया। शिक्षित समाज राज-द्वार की ओर ताकते हुए मंत्री-सभा में प्रवेश करने का अधिकार माँगने लगा—कभी करुण कण्ठ से, कभी कृत्रिम आक्रोश के साथ। गाँव-गाँव में पीने का पानी पकिल हो गया—उधर शहरों में द्वार-द्वार पर नल का पानी बहने लगा। हम विस्मित होकर कह उठे, यही है उन्नति। देश का वृहत् रूप हमारी दृष्टि से ओझल हो गया; देश का जो प्राण आलोक की तरह सारे देश में प्रसारित था। वह छोटे-छोटे केंद्रों में प्रतिसंहत हो गया।

आजकल हम जिसे एज्युकेशन कहते हैं उसका आरंभ शहर में होता है। व्यवसाय और नौकरी उसके पीछे-पीछे आनुषंगिक रूप से चलते हैं। यह विदेशी शिक्षाविधि रेलगाड़ी के डिब्बे में

जलने वाले दीप की तरह है—कमरा उज्वल है, लेकिन जिस प्रदेश से रेल गुजर रही है वह सैकड़ों मीलों तक अंधकार में लुप्त है। कारखाने में बनी गाड़ी ही मानो सत्य है, और प्राण-वेदना से परिपूर्ण समस्त देश अवास्तविक है।

नगरनिवासियों के एक दल को इस सुयोग से शिक्षा मिली, सम्मान और संपत्ति मिली। वे कहलाए, 'आलोकित', 'एंलाइटेण्ड'। लेकिन उस आलोक के हेतु सारे देश में सम्पूर्ण ग्रहण लग गया। स्कूल के बेंच पर बैठकर जिन्होंने अँग्रेजी के सबक दोहराये उनकी आँखे शिक्षादीप्ति से चकाचौंध हो गईं। उनकी दृष्टि में शिक्षित समाज ही पूरा देश है—उनके लिए मोरपंख ही मोर है, हाथीदाँत ही हाथी है। उनका नाट्यमंच कान्सवाद्य से मुखरित है, लेकिन नेपथ्य में हैं देश के गाँव, जहाँ रोग और अज्ञान जमा हो गए हैं, जहाँ न पीने को पानी है न चलने को रास्ते। नगरी सुजला-सुफला हो गई है, और वहीं आरोग्य निकेतन पनप रहे हैं, शिक्षा के लिए प्रासाद खड़े हो रहे हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि देश के प्रांत-प्रांत के बीच विच्छेद की ऐसी घातक छुरी अब तक कभी नहीं चलाई गई थी। इसको आधुनिकता का लक्षण कहकर इसकी निंदा करने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि किसी सभ्य देश में ऐसी हालात नहीं हैं। दूसरे देश में आधुनिकता सप्तमी के चंद्रमा की तरह आलोक और अंधकार के दो खण्डों में विभाजित नहीं हुई है। जापान में पाश्चात्य विद्या का प्रभाव भारत की तुलना में बहुत अल्पकाल तक रहा है, लेकिन यहाँ वह विद्या जोड़ लगाई हुई पुरानी गुदड़ी नहीं बनी। वहाँ परिव्याप्त विद्या के असर से देश के मन में चिंतन-शक्ति का

संचार हुआ है। यह चिंतन एक ही साँचे में ढली हुई चीज नहीं। आधुनिकता युगलक्षण के ही अनुसार इस चिंतन में वैचित्र्य भी है, ऐक्य भी। उसका ऐक्य युक्ति पर आधारित है।

कुछ लोगों ने आँकड़ों की सहायता से प्रमाणित किया है कि पहले भारत की ग्रामीण पाठशालाओं में जो प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध थी वह ब्रिटिश शासन काल में क्रमशः कम होती गई है। लेकिन इससे भी बड़ी क्षति यह हुई है कि जनशिक्षा के सभी सहज मार्ग लुप्त हो गए हैं। सुना जाता है, किसी दिन बँगाल में नहरें काटने का काम बड़ी निपुणता से किया गया था। वर्तमान काल की असावधानी और मूर्खता के कारण ये पुरानी नहरें बेकार हो गई हैं। इसी तरह देश में शिक्षा की नहरें भी बंद हो गई हैं, और सभी दिशाओं में हीनता तथा दैन्यता का विकास हुआ है। हमारे देश में शिक्षा की एक बड़ी समस्या का समाधान किया गया था; अनुशासन की शिक्षा आनन्द की शिक्षा बनकर देश के हृदय में प्रविष्ट हो गई थी और समस्त समाज की प्राणक्रिया के साथ उसका मिलन हुआ था। देशव्यापी प्राण के इस खाद्य का आज अकाल पड़ा है। पूर्वसंचित थोड़ा बहुत खाद्य बाकि है, तभी हम इस अकाल की विनाशमूर्ति को नहीं देखते।

मध्य एशिया के रेगिस्तान में जिन पर्यटकों ने प्राचीन युग के अवशेष ढूँढ़े हैं, उन्होंने देखा है कि कितने ही समृद्ध जनपद बालू के नीचे दबकर विलीन हो गए। किसी समय वहाँ विपुल जल संचय था, नदियों के रेखाचिह्न अब तक दिखाई पड़ते हैं। लेकिन बाद में रसधारा सूख चली, रेत ने धीरे-धीरे पैर बढ़ाये, अपनी शुष्क

जिह्वा से प्राण का शोषण किया। आखिर लोकालय के अन्तिम चिह्न एक असीम पीलेपन से लुप्त हो गए। हमारे ग्रामीण देश की मनोभूमि में भी आज रसधारा का अवसान हो रहा है। दीर्घकाल तक जो देश के निम्न स्तर पर विद्यमान था। उसका भी शुष्क वायु के उष्ण निःश्वासों से धीरे-धीरे अन्त होगा। प्राणनाशक मरुभूमि प्यासे अजगर की तरह आगे बढ़ेगी और देश को निगलने लगेगी। मरुभूमि के इस आक्रमण को हम नहीं देखते, क्योंकि हमारी दृष्टि केवल शिक्षित समाज पर ही केंद्रित है।

मैं एक लम्बे अरसे तक बँगाल के गाँवों के संपर्क में रहा हूँ। गर्मी के दिनों में मैंने दुःखद दृश्य देखे हैं। नदी का जल उतर चुका है, किनारे की मिट्टी में दरारें पड़ी हैं, तप्त बालू धधक रही है, तालाबों में कीचड़ के सिवा कुछ नहीं। स्त्रियाँ दूर-दूर से घड़ों में पानी ला रही हैं—उस जल में बँगदेश के अश्रु मिले हैं। गाँव में आग लगने पर उसे बुझाने का कोई उपाय नहीं, हैजा फैलने पर उसके निवारण का कोई साधन नहीं।

और भी एक दुःख की वेदना से मेरा मन बार-बार काँप उठा है। संध्या हो चली, दिन-भर का काम खत्म करके किसान घर लौट रहे हैं। एक ओर विस्तृत खेत पर अंधेरा छा रहा है, दूसरी ओर बाँस के जंगलों में छोटे-छोटे गाँव हैं—अँधेरे द्वीपों की तरह। वहाँ से ढोल की आवाज आ रही है। एक तारे की संगत पर कीर्तन चल रहा है — एक ही पद को हजारों बार तारस्वर से गाया जा रहा है। सुनकर मुझे लगा, यहाँ भी चित्तजलाशय सूख चला है। गर्मी बढ़ रही है, उसे शान्त करने का कोई उपाय नहीं। एक के बाद

एक वर्ष गुजरते जाते हैं, इसी दैत्यावस्था में। कैसे उनकी रक्षा होगी यदि बीच-बीच में वो अनुभव न करें कि किस मजदूरी के अलावा मनुष्य के पास 'मन' नाम की कोई चीज है जहाँ दुर्भाग्य के दासत्व से ऊपर उठकर साँस ली जा सकती है। किसी दिन लोगों को इस तरह की तृप्ति दिलाने के लिए सारे समाज ने यत्न किया था, क्योंकि समाज ने इन साधारण लोगों को अपना समझकर स्वीकार किया था। समाज जानता था कि इनके पतन में सारे देश का पतन है। लेकिन आज उनके मन की भूख मिटाने के लिए कोई मदद नहीं करता। उनके कोई आत्मीय नहीं हैं – बीते हुए युग की तलछट से ही वे बेचारे किसी तरह अपने-आपको सांत्वना देते हैं। कुछ दिनों में यह तलछट भी चूक जाएगी। दिनभर के श्रम और दुःख के बाद उनके निरानन्द मकानों में दीप जलेगा। गान का स्वर नहीं सुनाई पड़ेगा। बाँस के जंगल में बिल्ली बोलेगी, कभी आस-पास की झाड़ियों में सियार बोलेंगे – और उसी समय नगर के शिक्षाभिमानि लोग बिजली की रोशनी में सिनेमा देखने के लिए भीड़ लगाएँगे।

हमारे देश में एक ओर, सनातन शिक्षा का प्रवाह रुक गया है, जनसाधारण के लिए ज्ञान का अकाल पड़ा है; दूसरी ओर, आधुनिक युग की विद्या का आविर्भाव हुआ है। इस विद्या की धारा देश की जनता की ओर नहीं बहती। इसका पानी अलग-अलग जगहों पर जमा हो गया है; पत्थर के कुण्ड बन गए हैं; दूर-दूर से यहाँ आकर पण्डों को दक्षिणा देनी पड़ती है, कितने ही नियम निभाने पड़ते हैं। मंदाकिनी शिवाजी की जटाओं से नीचे उतरती हैं, साधारण लोगों के लिए

घाट-घाट पर प्रस्तुत होती है, कोई भी अपने घट में उसका प्रसाद भर सकता है। लेकिन हमारे देश की आधुनिक विद्या वैसी नहीं, उसका केवल विशिष्ट रूप है, साधारण रूप नहीं। इसलिए अँग्रेजी सीखकर जिन्होंने वैशिष्ट्य प्राप्त किया है उनके मन का सर्वसाधारण के साथ सामञ्जस्य नहीं है। देश में सबसे तीव्र जाति-भेद इसी क्षेत्र में है, यहाँ श्रेणी-श्रेणी में अस्पृश्यता है।

अँग्रेजी भाषा में अवगुण्ठित विद्या हमारे मन की सहवर्तिनी होकर नहीं चल पाती। इसीलिए हममें से अनेक लोग जिस मात्रा में शिक्षा पाते हैं उस मात्रा में विद्या नहीं पाते। चारों ओर के वातावरण से यह विद्या विच्छिन्न है। हमारे घर और स्कूल के बीच ट्राम चलती हैं, मन नहीं चलता। स्कूल के बाहर हमारा देश है; दोनों में कोई सहयोग नहीं, बल्कि विरोध ही है। इस विच्छेद के कारण हमारी भाषा और चिंतन स्कूल के बच्चों की तरह हो गए हैं। नोटबुक के शासन से वे मुक्त नहीं हैं। हमारी विचारबुद्धि में साहस का अभाव है; पुस्तकों में दिए हुए दृष्टान्तों के सहारे वह डरते-डरते पग बढ़ाती है। शिक्षा के साथ देश के चित्त का सहज मिलन नहीं है और इस दिशा में कोई प्रयत्न भी नहीं किया गया। बहू बाप के घर में है, ससुराल नदी के दूसरे तट पर है, और बीच में रेत जमा हो गई है। उस पार ले जाने वाली नौका है कहाँ?

पार जाने के लिए एक छोटा डोंगा है जरूर— उसका नाम है साहित्य। यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक बँगला साहित्य का पालन-पोषण वर्तमान युग के अन्न-वस्त्र से ही हुआ है। इस साहित्य से हमारे मन को आधुनिक युग का स्पर्श मिला

है, लेकिन यह नाव भी नदी के दूसरे तीर से यथेष्ट मात्रा में खाद्य सामग्री नहीं ला पाती। जिस विद्या ने वर्तमान युग की चित्तशक्ति को विचित्र रूपों में व्यक्त किया है, विश्व-रहस्य के नये-नये प्रवेश द्वार खोल दिए हैं, उस विद्या का हमारे बँगला साहित्य के मोहल्ले में बहुत कम आना जाना है। जो मन विचार करता है, चिंतन करता है, बुद्धि और व्यवहार में योग स्थापित करता है, वह तो बीते हुए युग में ही पड़ा है जो मन रसोपभोग करता है उसने अवश्य आधुनिक भोजनशाला के आँगन में यात्रा करना प्रारम्भ किया है। स्वभावतः इस रसोपभोगी मन का झुकाव उस दिशा में है जहाँ मदिरा का वितरण होता है, जहाँ की वायु नशीली गंध से ओत-प्रोत है।

बँगला साहित्य में अधिकतर कहानी-कविता नाटक को ही स्थान मिला है। यह उपभोग के आयोजन हैं, शक्ति के नहीं। पाश्चात्य देशों में विविध शक्तियों के सहयोग से ही चित्तोत्कर्ष सम्भव हुआ है। वहाँ देखा जाता है कि मनुष्यत्व शरीर-मन-प्राण सभी दिशाओं में व्याप्त है। इसलिए वहाँ यदि त्रुटियाँ हैं तो हों, एक तरह से परिपूर्ति भी है। वटवृक्ष की कोई डाल चाहे आँधी में टूट गई हो, किसी जगह कीड़ा लग गया हो, किसी साल बारिश कम होने से पेड़ कुछ सूख-सा गया हो लेकिन इन सबके बावजूद बरगद जमा हुआ है, उसने अपने स्वास्थ्य को, अपनी बलिष्ठता को सँभाला है। पाश्चात्य देशों में मन को उसकी विद्या, शिक्षा साहित्य सबने मिलकर क्रियाशील रखा है। इन सबके उत्कर्ष से ही उसकी कर्मशक्ति अक्लांत रही है, विकसित हुई है।

हमारे साहित्य में रस का ही प्राधान्य है। जब कोई असंयम या चित्त-विकार अनुकरण के रास्ते से इस साहित्य में प्रवेश करता है तो वही एकान्तिक हो उठता है, कल्पना-शक्ति को रुग्ण विलासिता की ओर ले जाता है। प्रबल प्राण-शक्ति यदि जागृत न हो तो शरीर का क्षुद्र विकार भी विषैले कीड़े का रूप धारण करता है। हमारे देश में इसी बात की आशंका है। इसके लिए जब हमें दोष दिया जाता है तो हम पाश्चात्य सभ्यता का दृष्टांत देते हैं और कहते हैं—‘आधुनिकतम सभ्यता की यही परिणति है’। लेकिन आधुनिक सभ्यता की जो चिंतनशील, प्रबल, समग्रता है उसे हम भूल जाते हैं।

मैं जब गाँव में रहता था, साधु-साधकों का वेष धारण किये हुए लोग कभी-कभी मेरे पास आते थे। साधना के नाम पर वे उच्छंखल इन्द्रिय-चर्चा करते। इसमें उन्हें धर्म का प्रश्रय प्राप्त था। उन्हीं से मैंने सुना है कि शिष्यों की शृंखला से यह प्रश्रय शहरों में भी उपलब्ध है। धर्म के नाम पर यह पौरुषघातक लालसा इसीलिए व्याप्त हो पाती है कि हमारे साहित्य और समाज में उन उपादानों का अभाव है जिनसे महान् चिंतन को तथा बुद्धि की साधना को आश्रय मिल सके, मन को कठिन गवेषणा के लिए उत्सुक रखा जा सके।

अन्तोगत्वा इसके लिए बँगाल के साहित्यकों को दोष नहीं दिया जा सकता। यह कहना तो आसान है कि हमारा साहित्य सारगर्भित नहीं है, लेकिन किस तरह उसे सारयुक्त बनाया जा सकता है यह निर्णय करना उतना सहज नहीं। रुचि के संबंध में लोग सतर्क नहीं हैं, क्योंकि रुचि के क्षेत्र

में किसी का शासन नहीं चलता। रस-सामग्री से तो अशिक्षित रुचि भी किसी-न-किसी तरह स्वाद प्राप्त कर लेती है। यदि वह समझे कि उसी का बोध रसानुभूति का चरम आदर्श है तो इस बात पर बहस छेड़ना बेकार है—ऐसी बहस का कोई अन्त नहीं। कविता-कहानी-नाटक के बाज़ार में जिन्हें समझदारों का राजपथ नहीं मिलता है वे आखिर देहात में खेत की पगडण्डियों पर चलते हैं वे जहाँ किसी तरह का महसूल नहीं लगता। लेकिन मनन-योग्य विद्या खेत को नहीं, उस सिंहद्वार को पार करके ही मिलती है जिस पर कड़ा पहरा लगा होता है। जिन देशों से लक्ष्मी और सरस्वती प्रसन्न हैं, वहाँ के लोग इस विद्या तक पहुँचने के लिए नये-नये पथ तैयार करते रहते हैं। दूर और निकट, घर में और घर से बाहर, मूल्यवान वस्तुओं का आदान-प्रदान चलता रहता है। हमारे देश को भी यही करना होगा; पर विलम्ब करने से काम नहीं चलेगा।

बँगाल के आकाश पर दुर्भाग्य के बादल चारों ओर से जमा हो गए हैं। किसी समय राजदरबार में बँगालियों की यथेष्ट प्रतिष्ठा थी। भारत के अन्य प्रदेशों में बँगालियों ने कर्मक्षेत्र में ख्याति प्राप्त की है। वे शिक्षा प्रसारण के अग्रणी रहे हैं। कभी उन्हें लोगों की श्रद्धा और अकुंठित कृतज्ञता प्राप्त थी। आज राजपुरुष उनसे रुष्ट हैं, अन्य प्रदेशों में उनके प्रति जो आतिथ्य भावना थी वह संकुचित हो गई है। द्वार अवरुद्ध है। बँगाल की आर्थिक दुर्गति भी बहुत बढ़ गई है।

अवस्था के दैन्य से और अशिक्षा की आत्मग्लानि से बँगाली कहीं नीचे न झुक जाएँ, उनका मन दुर्भाग्य से ऊपर उठ सके, यही चेष्टा

हम सबको अपने आपमें जगानी है। जब मनुष्य का मन छोटा हो जाता है, क्षुद्रता के आघात से सभी उद्योग शिथिल पड़ जाते हैं। बँगदेश में ईर्ष्या, निन्दा, दलबन्दी और परस्पर धिक्कार तो है ही; उस पर यदि चित्त का प्रकाश भी मलिन हो चले तो आत्मश्रद्धा के अभाव से दूसरों को नीचे गिराने का प्रयास और भी घातक बन जाएगा। आज हिन्दू मुसलमानों में जो लज्जास्पद संघर्ष चल रहा है—जो देश को आत्म विनाश की ओर ले जा रहा है—उसका मूल भी देशव्यापी अबुद्धि में ही है। बुद्धिहीनता की सहायता से ही अकल्याण हमारे भाग्य की दीवारें गिरा रहा है। इसी अकल्याण ने हमारे आत्मीयजनों को शत्रु बना दिया है और विधाता को भी हमारे पक्ष में नहीं होने दिया। आखिर अपना ही सर्वनाश करने की जिद यहाँ तक पहुँच गई है कि बँगाली होते हुए बँगला भाषा को भी विदीर्ण करने की चेष्टा हमारे लिए सम्भव हुई है! शिक्षा और साहित्य के उदार क्षेत्रों में भी—जहाँ सारे मतभेदों के बावजूद देश के लोगों का मिलन-स्थान है—अपने हाथों से काँटे बिछाते हुए हमें लज्जा का बोध नहीं हुआ। हमें दुःख सहना पड़ता है तो इसमें धिक्कारणीय कोई बात नहीं है। लेकिन देशभर के अशिक्षाग्रस्तों के व्यवहार से हमारा माथा झुक गया है, हमारे सारे महान् उद्यम व्यर्थ हो गए हैं। राष्ट्रों के बाज़ार में अधिकारों के लिए हम चाहे जितने उच्च स्वर में मोल-भाव करें, वहाँ गोलमेज़ के बबंडर में हमारी व्यर्थता का इलाज नहीं मिलेगा। नाव के पैदे में तख्ते अलग हो रहे हैं, सबसे पहले उनकी ओर ध्यान देना होगा, तख्तों को बाँधना होगा।

सबसे पहले हमें शिक्षित मन की आवश्यकता है। स्कूल-कॉलेज के बाहर शिक्षा के विस्तार का साधन है साहित्य। लेकिन साहित्य को सर्वांगीण रूप से शिक्षा का आधार बनाना है। उसको ग्रहण करने का पथ सबके लिए सुगम बनाना है। इसके लिए हम किस मित्र की मदद ले सकते हैं? मित्र तो आजकल दुर्लभ हो गए हैं। इसीलिए मैं बंग देश के विश्वविद्यालय के द्वार पर सहायता-याचना कर रहा हूँ।

शरीर के अँग-प्रत्यँग में मस्तिष्क और स्नायुजल का अविच्छिन्न योग देखा जा सकता है। विश्वविद्यालय को मस्तिष्क का स्थान देकर देश के समस्त शरीर के स्नायुतंत्र को प्रेरणा देनी होगी। प्रश्न यही है कि किस तरह यह बात सम्भव हो सकेगी। मेरा सुझाव है कि एक ही परीक्षा के जाल में देश को समेट लिया जाए। यह व्यवस्था ऐसी सहज और व्यापक होनी चाहिए कि स्कूल-कॉलेज के बाहर भी पाठ्यपुस्तकों के प्रति उत्साह उत्पन्न हो। विश्वविद्यालय प्रत्येक जिले में परीक्षा केंद्र स्थापित कर सकता है जहाँ घर की स्त्रियाँ और वे सब पुरुष, जो विभिन्न कारणों से स्कूल में भर्ती नहीं हो सकते, अवकाशकाल में अपनी चेष्टा से अशिक्षा की लज्जा को दूर कर सकें। बहुत से विषयों को सूत्रबद्ध करके विश्वविद्यालय में डिग्री प्रदान की जाती है। लेकिन मैंने जिस क्षेत्र की स्थापना का सुझाव दिया है वहाँ उपाधि देने के लिए इस तरह की बहुलता जरूरी नहीं है। अधिकतर देखा जाता है कि व्यक्ति के मन में किसी विशेष विषय के लिए प्रवीणता होती है। उसी विषय पर यदि वह अधिकार प्राप्त कर लें तो उसे समाज में उचित

स्थान मिलना चाहिए। इस अधिकार से उसे वंचित रखने का मैं कोई कारण नहीं देखता।

विश्वविद्यालय यदि अपने पीठ स्थान के बाहर भी व्यापक रूप से अपनी सत्ता प्रसारित करे, तो बँगला भाषा में यथोचित सँख्या में शिक्षा के लिए पाठ्यपुस्तकों की रचना सम्भव होगी। अन्यथा बँगला साहित्य का विषय-दैन्य दूर नहीं हो सकता। जिन शिक्षणीय विषयों के ज्ञान की आत्मसम्मान माँग करता है उनके अध्ययन के लिए यदि बाध्य होकर अँग्रेजी की शरण लेनी पड़े, तो इस अकिंचनता से मातृभाषा सदा अपमानित रहेगी। जो बँगाली केवल बँगला ही जानते हैं उन्हें क्या शिक्षित समाज में सर्वदा निम्न श्रेणी पर ही रहना होगा? एक ऐसा समय भी था—मैं बँगला नहीं जानता', और, देश के लोग भी उसका गौरव करते थे। वह दिन बीत चुका है। लेकिन आज भी बँगाल के छात्रों को यह कहते शर्म से सिर झुकाना पड़ता है कि 'मैं केवल बँगला भाषा ही जानता हूँ।' एक ओर राजनीतिक क्षेत्र में हम स्वराज प्राप्त करने के लिए कठोर दुःख सह सकते हैं, लेकिन शिक्षा के क्षेत्र में स्वराज प्राप्त करने का उत्साह हममें नहीं है। आज भी देश में ऐसे लोग हैं जो सोचते हैं कि शिक्षा को बँगला भाषा के आसन पर बिठाने से उसका मूल्य कम हो जाएगा। जब पहले-पहल लोग विलायत की यात्रा करने लगे तो अँग्रेजियत का नशा इस तरह चढ़ा कि स्त्रियों के साड़ी पहनने से 'प्रेस्टीज' को चोट पहुँचने लगी ! बहुत से बँगवासी आज भी समझते हैं कि शिक्षा-सरस्वती को साड़ी पहनाने से मानहानि होगी। लेकिन यह स्पष्ट है कि हमारे घर की देवी साड़ी पहनकर ही आराम के साथ

चल-फिर सकती है। ऊँची एड़ी के जूते पहनने से उसे पग-पग पर असुविधा होगी।

किसी दिन, जब मेरी आयु अल्प थी पर शक्ति अधिक, मैं अँग्रेजी साहित्य के नमूनों को पढ़कर उसी समय उनका बँगला अनुवाद करके लोगों को सुनाता था। मेरे श्रोता अँग्रेजी जानते थे। फिर भी उन्होंने स्वीकार किया है कि अँग्रेजी साहित्य का संदेश बँगला भाषा के माध्यम से उनके मन तक सहज ही पहुँच सका। वास्तव में आधुनिक शिक्षा 'अँग्रेजी भाषा वाहिनी' है, इसीलिए हमारे मन के प्रवेश-पथ पर उसे रुकावट का सामना करना पड़ता है। अँग्रेजी 'डिनर टेबल' की जटिल पद्धति से जो अभ्यस्त नहीं होते, ऐसे बँगाली छात्र जब पी.एण्ड.ओ. जहाज से विलायत की यात्रा करते हैं तो उन्हें स्टीमर के भोजनगृह में कठिनाई होती है। जब वे खाने बैठते हैं तो भोज्यवस्तु और रसना के बीच काँटा-छुरी बाधा डालती है और भरपूर खाद्य-सामग्री होने पर भी उन्हें खाली पेट उठना पड़ता है। हमारी शिक्षा के

भेज की भी यही दशा है। है तो सब-कुछ, लेकिन एक बड़ा हिस्सा व्यर्थ हो जाता है। यह मैं कॉलेज यज्ञ के संबंध में कह रहा हूँ जहाँ शिक्षा के पानी का नल लगा हुआ है, बल्कि वहाँ की, जहाँ तक पाइप नहीं पहुँचे।

मातृभाषा में यदि शिक्षा की धारा प्रशस्त न हो तो इस विद्याहीन देश में मरुवासी मन का क्या होगा?

बँगला-भाषिणी तृषित मातृभूमि की ओर से बँगदेश के विश्वविद्यालय के पास मैं चातक की तरह उत्कुंठित वेदना लेकर आया हूँ और अनुरोध करता हूँ-तुम्हारे अभ्रभेदी शिखरों को घेरकर प्राणवाही श्यामल मेघ जमा हों, उनका प्रसाद तुम्हारी धरती पर बरसे, उसे फूल-फूल से भर दे! तुम्हारा उद्यान पल्लवित, कुसुमित हो, मातृभाषा का अपमान दूर हो, युगशिक्षा की तरंगमयी धारा बँगाली चित्त के शुष्क नदी-पथ को प्लावित करे। दोनों किनारे पूर्ण चेतना से जागरित हों, और घाट-घाट पर आनन्दध्वनि गूँज उठे।

(बँगला के प्रोफेसर के रूप में कलकत्ता विश्वविद्यालय में फरवरी 1933 को दिया गया भाषण) 'शिक्षा' (विश्वभारती संस्करण) पुस्तक में समाविष्ट।

21वीं सदी में भारतीय शिक्षा व्यवस्था कुछ समस्याएँ कुछ समाधान

सुनीता कुमारी नागर*

अन्विति सिंह**

यह सर्वविदित तथ्य है कि शिक्षा सामाजिक परिवर्तन एवं विकास का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। यह किसी व्यक्ति समाज एवं देश के लिए निर्णायक मोड़ होती है। शिक्षा के प्रचार-प्रसार द्वारा देश के विकास को वांछित गति एवं दिशा दी जा सकती है। यह शिक्षा ऐसी हो जो अपने समाज की विविध आवश्यकताओं को पूरा कर सके। वैश्वीकरण एवं उदारीकरण के इस दौर में भारतीय शिक्षा व्यवस्था एक निर्णायक दौर से गुजर रही है। अपनी शिक्षा व्यवस्था द्वारा देश की विभिन्न आर्थिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने की इस प्रक्रिया में उसे किन क्षेत्रों में अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है? प्रस्तुत लेख में इसी बात पर चर्चा की गई है।

किसी भी देश की शिक्षा का स्वरूप उसके काल, परिस्थिति एवं परिवेश सापेक्ष होता है। ये सब परिवर्तनशील हैं इसलिए इनका स्वरूप भी बदलता रहता है। यह इक्कीसवीं सदी है। वैश्वीकरण, सूचना प्रौद्योगिकी एवं वैज्ञानिक सोच इस सदी की विशेषताएँ हैं। समाज इन्हीं मूलभूत प्रक्रियाओं द्वारा परिचालित हो रहा है। स्पष्ट है कि आज की शिक्षा का स्वरूप इन्हीं प्रक्रियाओं

पर आधारित हो परन्तु भारतीय शिक्षा व्यवस्था का आकलन करने पर छवि कुछ और ही दिखती है।

आजादी के छह दशक बीत जाने के पश्चात जब हम भारतीय शिक्षा व्यवस्था का आकलन करते हैं तो पाते हैं कि यूँ तो शिक्षा के क्षेत्र में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए हैं। विद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या में बेतहाशा बढ़ोतरी हुई है। विद्यालय, महाविद्यालय एवं दूरस्थ शिक्षा केंद्रों-की संख्या में

* शोध छात्रा, साँख्य-योग विभाग, दर्शन संकाय, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली

** शोध छात्रा, शिक्षा विभाग, राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

भी बढ़ोतरी हुई है, परन्तु फिर भी शिक्षा के क्षेत्र में भारत अभी बहुत पीछे है। विश्व में सर्वाधिक निरक्षर भारत में ही हैं तथा बच्चों एवं युवाओं का एक बहुत बड़ा वर्ग अभी भी विद्यालयी शिक्षा के दायरे से बाहर है।¹ हमारे देश में शिक्षा की हालत कितनी खराब है, इस विषय में बहुत से लोग सोच भी नहीं सकते। विद्यालयों से शिक्षक गायब है और वयस्क निरक्षरता की दर अभी भी 34% है। यही वजह है कि विकास के दौर में भारत 182 देशों के मध्य 134वें स्थान पर है कमोवेश जहाँ पहले था वहीं।

यही हाल रहा तो हम कब सबके लिए शिक्षा के उद्देश्य को प्राप्त कर सकेंगे इसकी कोई समय सीमा नहीं बता सकेगा। यूनेस्को की ग्लोबल मॉनिटरिंग रिपोर्ट (2003) के अनुसार भारत सर्वशिक्षा अभियान का लक्ष्य सन् 2015 तक भी पूरा नहीं कर पाएगा। सारी दुनियाँ के 130 देशों की अलग-अलग श्रेणियों में (विद्यालयी शिक्षा में प्रगति के आधार पर) भारत सबसे नीचे है। इस श्रेणी में भारत के अलावा नेपाल, पाकिस्तान तथा सहारा अफ्रीका के 10-12 देश हैं।²

आज आवश्यकता है शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक परिवर्तनों की। शिक्षा के विभिन्न स्तर यथा प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च स्तर पर व्यापक परिवर्तन किए जाने पर ही हम शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों को प्राप्त कर पाएँगे तथा एक विकसित राष्ट्र के रूप में उभर पाएँगे।

भारत को यदि विकासशील राष्ट्र से विकसित राष्ट्र की यात्रा सफलतापूर्वक तय करनी है तो इसे सबसे पहले अपनी शिक्षा पद्धति पर ध्यान देना होगा। कहीं न कहीं कोई न कोई खामी जरूर है तभी आजादी के 62 वर्ष बीत जाने पर भी ग्रामीण-शहरी, स्त्री-पुरुष, अमीर-गरीब, एवं विभिन्न जातियों के मध्य अंतर कम होने की जगह बढ़ता ही गया है।³ शिक्षा समाजिक परिवर्तन का सशक्त माध्यम है अतः जाहिर है कि इस माध्यम का हमने सामाजिक परिवर्तन के लिए यथेष्ट रूप से इस्तेमाल नहीं किया।

देश की शिक्षा व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन की माँग आजादी के समय से ही की जा रही है और यह आवश्यक भी है। 1972 में यूनेस्को द्वारा विश्व के सभी देशों की प्रचलित शिक्षा व्यवस्था का विस्तृत सर्वेक्षण किया गया था, जिसमें यह बताया गया था कि समाजवादी राष्ट्र को छोड़कर शेष सभी राष्ट्रों में शिक्षा का प्रयोग प्रचलित शिक्षा व्यवस्था को बनाए रखने के लिए किया जा रहा है और शिक्षा के द्वारा वर्ग भेद की भावना दिनों-दिन मजबूत की जा रही है। वर्तमान में यदि हम विभिन्न राज्यों की विभिन्न पाठ्यपुस्तकों का विश्लेषण करें तो हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे जिनसे यह सिद्ध हो जाएगा कि हमारी शिक्षा व्यवस्था उन सिद्धान्तों को वैधता प्रदान करने का कार्य कर रही है जो समाज एवं कहीं-कहीं संविधान विरोधी भी होते हैं।⁴ एक

¹वर्मा. सुबोध 2010, एजुकेशन - एन अनफिनिशड रिवॉल्यूशन. द टाइम्स ऑफ इण्डिया . 25 जनवरी 2010.

²सदगोपाल. अनिल 2006, शिक्षा समानता और भारत की संप्रभुता, शिक्षा विमर्श (5) पृ. 6-15।

³काक. एस. के. 2010, ए जर्नी वी मस्ट मेक. द टाइम्स ऑफ इण्डिया. 28 जनवरी 2010.

⁴गुप्ता. राजीव 2007, सामाजिक विभेद को स्थापित करती पुस्तकें, शिक्षा विमर्श (1) पृ. 32-35

ओर हम नारी सशक्तिकरण एवं अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के विकास एवं उत्थान की बात कर रहे हैं और दूसरी ओर हमारे विद्यालयों में ऐसी पाठ्यपुस्तकें पढ़ाई जा रही हैं जो उनकी नकारात्मक छवि प्रस्तुत करती हैं। स्पष्ट है कि वर्तमान शिक्षा व्यवस्था शिक्षितों और जनसाधारण के मध्य न केवल गहरी खाई उत्पन्न कर रही है बल्कि शिक्षितों के मन में जनसाधारण के प्रति उपेक्षा एवं विरोध के भाव भी उत्पन्न कर रही है।

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के संबंध में जो बात स्वामी विवेकानंद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गाँधी जैसे मनीषियों ने कही थी वह आज की परिस्थिति में और भी अधिक प्रासंगिक हो उठी है। हमारी शिक्षा व्यवस्था पर प्रारंभ से ही पाश्चात्य प्रभाव हावी रहे हैं, इसके द्वारा न तो राष्ट्रीय आदर्शों का पोषण हुआ है और न राष्ट्रीय आदर्शों की पूर्ति।

पाश्चात्य आदर्शों की आलोचना का अर्थ यह कतई नहीं है कि हमें पश्चिम से कुछ ग्रहण नहीं करना है। वर्तमान वैज्ञानिक तथा यांत्रिक ज्ञान मुख्यतः पश्चिम का ही है और कोई भी विकासोन्मुख तथा आधुनिक बनने की इच्छा रखने वाला राष्ट्र उस ज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकता। परन्तु अपनी आवश्यकताओं का सही-सही आकलन किए बिना यदि हम पश्चिम के ज्ञान को आयातित करते हैं तो उससे हमारी समस्याओं का समाधान नहीं होता बल्कि वे और भी जटिल हो उठती हैं। इसलिए हमारी शिक्षा व्यवस्था का स्वरूप, विषय तथा उद्देश्य सभी कुछ बदलने की आवश्यकता है। हमें जनसाधारण के विकास को अपना लक्ष्य बनाना होगा और विद्यालयों को सामाजिक क्रांति का केंद्र।

हमारी वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक का पाठ्यक्रम दोषपूर्ण है। यह न केवल हमारे राष्ट्रीय आदर्शों से अलग है अपितु इसके द्वारा हमारी राष्ट्रीयता के विकास में बहुत बाधा पहुँच रही है। अतः प्राथमिक कक्षाओं से लेकर विश्वविद्यालयी कक्षाओं तक के पाठ्यक्रम में मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता है। शिक्षा की गुणवत्ता प्राथमिक स्तर से ही सुधारी जा सकती है। उसके बाद सुधारना कठिन है। प्रो. यशपाल ने 'शिक्षा बिना बोझ के' (1993) नामक रिपोर्ट में कहा था कि भारत की विद्यालयी शिक्षा में बड़ी संख्या में आरंभिक कक्षाओं में ही बच्चों के आक्रांत हो जाने की एक वजह उसका दुर्बोध होना है। पुस्तक लेखक सूचनाओं से आतंकित रहते हैं और सूचनाएँ ठूसकर पुस्तकों को बोझिल बना देते हैं फलतः वह छात्र एवं शिक्षक दोनों के लिए दुर्बोध हो उठती है। इतना ही नहीं पाठ्यक्रम में सुधार के नाम पर उसका स्तर बढ़ा दिया जाता है और ऐसी चीजें भर दी जाती हैं जिन्हें उस स्तर के बच्चे समझ ही नहीं पाते। ऐसी स्थिति में शिक्षा ज्ञानवर्द्धन का साधन न बनकर तोता रटत हो उठती है। उच्च स्तर की कक्षाओं की पाठ्यपुस्तकों यथा समाजशास्त्र और मनोविज्ञान आदि विषयों में प्रायः जो उदाहरण दिये जाते हैं वे पश्चिम के समृद्ध समाज के होते हैं और उनका हमारे जीवन से कोई संबंध नहीं होता। प्रो. यशपाल की 'शिक्षा बिना बोझ के' रिपोर्ट के आधार पर एन.सी.ई.आर.टी. ने पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रमों और पाठ्यपुस्तकों में सुधार लाने के प्रयत्न किये हैं परन्तु यह प्रयास कितने शिक्षकों

और विद्यार्थियों को लाभान्वित कर रहे हैं, यह देखे जाने की जरूरत है।

अभी हाल ही में भारतीय विद्यालयी शिक्षा व्यवस्था की गुणवत्ता पर ए.एस.ई.आर. के एक अध्ययन के अनुसार चार वर्ष की विद्यालयी शिक्षा पूरी करने वाले 38% बच्चे छोटे-छोटे वाक्यों वाला वह पैराग्राफ नहीं पढ़ सकते जो दूसरी कक्षा के विद्यार्थियों के लिए होता है ऐसे 55% बच्चे तीन अंकों की संख्या को एक अंक की संख्या से भाग नहीं दे सकते।⁵ इससे पता चलता है कि अन्य विषयों की पढ़ाई की क्या स्थिति हो सकती है।

माध्यमिक शिक्षा बमुश्किल 25% से 30% बच्चों को उपलब्ध है। अनुसूचित जाति एवं जनजाति अर्थात दलित एवं आदिवासी बच्चों में यह आँकड़ा मुश्किल से 20% है लड़कियों की हालत और भी बुरी है। आदिवासी लड़कियों का आँकड़ा बताता है कि बड़ी मुश्किल से 17% लड़कियाँ 10वीं तक पहुँच पाती हैं, उत्तीर्ण आधे से भी कम होती हैं क्योंकि माध्यमिक शिक्षा में असफलता की दर 50% से अधिक है।⁶

एक नजर अनुसूचित जनजाति तथा आदिवासियों की शिक्षा पर डालें तो ज्ञात होता है कि पिछले 62 वर्षों में आदिवासियों के लिए अनेक शैक्षिक योजनाएँ आरंभ की गईं। परन्तु सच्चाई यह है कि उनके लिए आज तक सुविधासम्पन्न प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा केंद्रों का निर्माण नहीं

हो सका। झारखण्ड जो एक आदिवासी बहुल राज्य है, में बहुत से विद्यालय एवं महाविद्यालय खुल गए हैं जो अँग्रेजी माध्यम से शिक्षा देते हैं। परन्तु आदिवासियों को उनकी अपनी भाषा में पढ़ाना अब भी शुरु नहीं हुआ है।⁷ आज भारत में आदिवासियों की भाषाएँ खत्म हो रही है या यूँ कहें कि खत्म की जा रही हैं। उनकी 600 भाषा/बोलियाँ हैं जिनमें से 90 में साहित्य लिखा जा रहा है।⁸ फिर भी हम उन्हें उनकी भाषा में नहीं पढ़ाते। इक्का-दुक्का आदिवासी लड़के शिक्षा में आगे आ पाते हैं और उन्हें भी ऐसी शिक्षा दी जाती है कि वे अपनी ही संस्कृति को हेय समझते हैं। आम आदिवासी के बच्चे तो प्राथमिक विद्यालय तक भी नहीं पहुँच पाते। जो पहुँचते हैं वे इसलिए विद्यालय छोड़कर चले जाते हैं कि वे उस शिक्षक के साथ सामंजस्य ही नहीं बिठा पाते जो उनके समाज के नहीं होते और जो उनकी भाषा एवं संस्कृति को हेय समझते हैं।

सरकार ने आदिवासियों के लिए छात्रावास तो बहुत बनाए हैं पर उनकी सच्चाई यह है कि वहाँ या तो खाना ही नहीं मिलता या इतना कम कि बच्चों का पेट ही नहीं भरता।

इन समस्त कमियों के अलावा भारतीय शिक्षा व्यवस्था की सबसे बड़ी कमी है विविध प्रकार के विद्यालय। आवश्यकता है कोठारी आयोग द्वारा सुझाई गई समान विद्यालय प्रणाली लागू करने की परंतु हाल ही में लागू हुए 'बच्चों के

⁵पिन्नोदा, सैम 2010, ज्ञानवान समाज के निर्माण की जरूरत, योजना 53.9 पृ. 56

⁶सदगोपाल. अनिल 2006, शिक्षा समानता और भारत की संप्रभुता, शिक्षा विमर्श (5) पृ. 6-15

⁷गुप्ता. रमणिका 2010, आदिवासी: आकांक्षाओं के धूमिल क्षितिज. आजकल (9) पृ. 66-69

⁸वही.

लिए मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा अधिकार अधिनियम' के प्रारंभ में चार प्रकार के विद्यालयों के अस्तित्व को मान्यता दे दी गई है जो इस प्रकार है—

1. सरकारी विद्यालय;
2. अनुदान प्राप्त निजी विद्यालय;
3. विशेष श्रेणी के विद्यालय; एवं
4. अनुदान न पाने वाले निजी विद्यालय।

यही नहीं सरकार स्वयं अनौपचारिक शिक्षा (नॉन फार्मल) के नाम पर अधिकाँश बच्चों को वैकल्पिक विद्यालयों, शिक्षा गारंटी केंद्रों इत्यादि में दायम दर्जे की शिक्षा उपलब्ध करा रही है जो शिक्षित करने के नाम पर केवल साक्षर करती है। इस प्रकार शिक्षा के भेदभाव के दूर करने की बजाए उसे एक प्रकार से मान्य एवं पुष्ट ही किया जा रहा है। यह भारत में शिक्षा के क्षेत्र में बढ़ते हुए भेदभाव, गैर-बराबरी और शिक्षा के बाजारीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने के लिए काफी है जबकि आवश्यकता उस पर तत्काल रोक लगाने की है।

यह तो सच है कि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में बहुत विस्तार हुआ है परंतु जिस तेजी से जनसँख्या बढ़ी है और उदारीकरण के बाद बाजार में कौशल्युक्त व्यक्तियों की आवश्यकता बढ़ी है उस तेजी से इसका विकास नहीं हुआ। आजादी के 6 दशक और उदारीकरण के 2 दशक बीतने के बाद भी उच्च शिक्षा में सकल नामांकन अनुपात (Gross Enrolment Ratio) 11% है, जबकि विकसित देशों में यह 25% है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में शहरी युवाओं का वर्चस्व है। ग्रामीण क्षेत्रों में उच्च शिक्षा के केंद्रों की कमी

इसका प्रमुख कारण है। यही वजह है कि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अनुसूचित जाति, जनजाति एवं महिलाओं की भागीदारी भी अपेक्षाकृत कम है।

यही नहीं शिक्षा व्यवस्था में लचीलेपन की कमी तथा शिक्षण संस्थानों की गुणवत्ता में विभिन्नता की वजह से क्षेत्रों को अधिक विकल्प नहीं मिल पाते और उच्च शिक्षा के अनेक क्षेत्रों में विद्यार्थियों की कमी महसूस की जाती है। विज्ञान, मानविकी और वाणिज्य के आधारभूत विषयों का अध्ययन अध्यापन परंपरागत तरीके से ही होता है। हमारी ऐसी उच्च शिक्षा व्यवस्था ऐसे स्नातकों की फौज खड़ी कर रही है जो श्रम बाजार के लिए उपयुक्त होते ही नहीं। फलतः शिक्षित बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न होती है।

भारतीय श्रम रिपोर्ट, 2007⁹ के अनुसार रोजगार के अवसर तो हैं पर उसके लिए उपयुक्त प्रशिक्षित व्यक्तियों की कमी है। अर्थात् बेरोजगारी से कहीं अधिक गंभीर समस्या विभिन्न कौशलों में प्रशिक्षित व्यक्तियों की कमी की है। रिपोर्ट के आँकड़े जो चित्र प्रस्तुत करते हैं, वह चिंतनीय है। इसके अनुसार 53% रोजगारयुक्त व्यक्तियों में कुछ न कुछ कौशलों की कमी है और केवल 8% युवा ही रोजगार के उपयुक्त हैं। रिपोर्ट के अनुसार 57% युवाओं में वांछित कौशल की कमी है। विद्यालयों, महाविद्यालयों से निकलने वाले 90% युवा किताबी ज्ञान रखते हैं। जो श्रम बाजार के किसी काम का नहीं। स्पष्ट है कि हमारे देश की उच्च शिक्षा व्यवस्था उदारीकरण के दो दशक बाद भी वैश्वीकरण के कारण उत्पन्न हुई आवश्यकताओं को पूरा करने में

⁹पालीवाल. डी. के. 2010, को रिलेशन बीटवीन एजुकेशन एण्ड ग्लोबलाइजेशन. यूनिवर्सिटी न्यूज. 48(1) पृ.1-3

सक्षम नहीं हो पाई है। अगले चार वर्षों में विश्व की 25% श्रमशक्ति भारत में होगी।¹⁰ स्पष्ट है कि इस श्रमशक्ति का लाभ लेने के लिए तथा भारतीय अर्थव्यवस्था को मजबूत करने के लिए उच्च शिक्षा व्यवस्था में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है।

उच्च शिक्षा की गुणवत्ता के लिए भारत सरकार ने सन् 1957 में यू.जी.सी. की स्थापना की, परंतु गुणवत्ता को बनाए रखने के लिए जो अधिकार इस आयोग को दिए जाने चाहिए थे वे नहीं दिए गए। इसके अलावा एक दर्जन से अधिक व्यावसायिक परिषदों की स्थापना की गई, जिसमें हरेक को अपने क्षेत्र से संबंधित अधिकार दिए गए जैसे मेडिकल काउंसिल ऑफ इंडिया, ए.आई.सी.टी.ई. इत्यादि। परन्तु इनमें किसी प्रकार का समन्वय न होना भी एक समस्या है। विश्वविद्यालय और परिषद भी अधिकारों को लेकर आपस में लड़ते रहते हैं और शिक्षा की गुणवत्ता को बनाए रखने की जिम्मेदारी एक दूसरे पर डालते रहते हैं।

शिक्षा के निजीकरण ने एक ओर सरकार को उच्च शिक्षा के दायित्व से कुछ हद तक मुक्त तो कर दिया लेकिन इसके साथ ही निजी संस्थानों को शिक्षा को व्यवसाय बनाने की छूट भी मिल गई। शिक्षा का निजीकरण बुरा नहीं बशर्ते इसे व्यवसाय न बनाया जाए और इसकी गुणवत्ता के साथ कोई समझौता न किया जाए। परंतु वर्तमान में अच्छी निजी संस्थाओं और

स्तरहीन संस्थाओं के मध्य अंतर करना कठिन है फलस्वरूप शिक्षा के केंद्र डिग्रियाँ बाँटने वाली संस्थाएँ बनकर रह गई हैं।

सन् 1983 में अमरीका सरकार द्वारा नियुक्त 'कमीशन फॉर एक्सीलेंस इन एजुकेशन' ने अपनी 'द नेशन एट रिस्क' रिपोर्ट में अमरीका जनता को चेतावनी देते हुए कहा था—

*'हमारे समाज में शिक्षा की बुनियाद सामान्य स्तर की योग्यताओं के कारण कमजोर होती जा रही है तथा भविष्य में राष्ट्र तथा जनता के लिए खतरा बन सकती है।'*¹¹

यह कथन वर्तमान में हमारे देश के लिए भी उतना ही प्रासंगिक है जितना तब अमेरिका के लिए था।

भारत में उच्च शिक्षा की प्रणाली कोई छोटी नहीं फिर भी सकल राष्ट्रीय आय के अनुपात के रूप में उच्च शिक्षा पर होने वाला व्यय 1980-81 में 0.98% था जो 1994-95 में घटकर 0.35% और 2006-07 में मात्र 0.22% ही रह गया है। प्रति व्यक्ति शिक्षा पर होने वाला सरकारी व्यय 1990-91 में निरंतर घटता ही चला गया। इस पर गंभीरतापूर्वक विचार किए जाने की आवश्यकता है।¹²

इनके अलावा भी भारतीय शिक्षा व्यवस्था तमाम तरह की परेशानियों से जूझ रही है जैसे भौतिक एवं मानव संसाधनों की कमी, आर्थिक तंगी तथा शिक्षा का माध्यम इत्यादि। इन सभी समस्याओं से मुक्ति पाना यदि आसान नहीं है तो कठिन भी नहीं है। आवश्यकता है तो केवल

¹⁰चन्सौरिया, मुकेश 2009, भारत में उच्च शिक्षा – समस्याएं एवं समाधान. योजना 53.9 पृ. 27-30

¹¹पालखीवाला. ननी 2003, हम हिन्दुस्तानी. राजपाल एंड संस. पृ. 140-144

¹²चन्सौरिया, मुकेश 2009, भारत में उच्च शिक्षा – समस्याएं एवं समाधान. योजना 53.9 पृ. 27-30

शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन लाने के लिए राजनैतिक संगठनों में इच्छा शक्ति की यदि वे चाहें तो कुछ भी संभव है।

यहाँ प्रश्न यह है कि शिक्षा के क्षेत्र में क्या परिवर्तन करने चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने के लिए हमें उन समस्त आयोगों और समितियों जिन्हें समय-समय पर शिक्षा के क्षेत्र में बदलाव लाने के लिए एवं भारतीय शिक्षा व्यवस्था की समीक्षा करने के लिए गठित किया गया था जैसे माध्यमिक शिक्षा आयोग, कोठारी आयोग, आचार्य राममूर्ति समिति, यशपाल समिति इत्यादि के सुझावों को जल्द से जल्द अमल में लाना होगा। क्योंकि इनके सुझाव आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने उस समय थे जब इन्हें गठित किया गया था।

यदि वास्तव में देश के सारे बच्चों को अच्छी, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देनी है तो सरकार को ऐसे कानून और नीतियाँ बनानी चाहिए जिनमें निम्न बातें सुनिश्चित हों—

सर्वप्रथम तो यह आवश्यक है कि देश में समान विद्यालय प्रणाली लागू हो, जिससे कि विद्यालयों की विविधता समाप्त हो जाए और सबको शिक्षा के समान अवसर मिले। जब तक देश में समान शिक्षा प्रणाली लागू नहीं होगी तब तक शिक्षा का अधिकार कानून बेमानी है। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था सरकार की दोहरी एवं अस्पष्ट नीतियों का परिणाम है जहाँ शिक्षा का स्थान साक्षरता ने, विद्यालय का स्थान अनौपचारिक शिक्षा केंद्रों ने और शिक्षक का स्थान अर्द्ध शिक्षकों ने ले लिया है।

देखा गया है कि विभिन्न प्रवेश परीक्षाओं में ग्रामीण क्षेत्रों से आने वाले बच्चों की अपेक्षा शहरी क्षेत्रों के बच्चों को अधिक सफलता मिलती है। कारण स्पष्ट है कि शहरी क्षेत्रों के बच्चों को सुविधाएँ अधिक मिलती हैं और समस्त नहीं तो अधिकाँश बच्चे अँग्रेजी स्कूलों में पढ़े होते हैं। अतः स्पष्ट है कि शिक्षा के समान अवसर हम तभी उपलब्ध करा सकते हैं जब समान विद्यालय प्रणाली लागू होगी। इस संदर्भ में हाल ही में केंद्र सरकार द्वारा लिया गया देशभर के उच्च माध्यमिक विद्यालयों में विज्ञान और गणित का समान पाठ्यक्रम लागू करने का निर्णय स्वागत योग्य है।¹³ यह शैक्षिक अवसरों की समानता के सिद्धान्त पर अमल करता है। इससे विभिन्न राज्यों के विद्यार्थियों को एक जैसी शिक्षा मिलने की संभावना होगी और प्रतियोगी परीक्षाओं में सबको एक जैसी चुनौती मिलेगी।

शिक्षा का माध्यम विशेषकर प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा का होना आवश्यक है। अनुसंधान¹⁴ यह बताते हैं कि बच्चों को सर्वप्रथम अपनी मातृभाषा में दक्षता प्राप्त करने के पश्चात दूसरी भाषा को सीखना भी आसान हो जाता है। आदिवासियों को भी प्राथमिक शिक्षा उन्हीं की भाषा में दी जानी चाहिए तभी वे आगे बढ़ पाएँगे और मुख्य धारा में शामिल हो पाएँगे। प्रसिद्ध शिक्षाविद् प्रो. दौलत सिंह कोठारी¹⁵ के अनुसार प्राथमिक और उच्चतर प्राथमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों को विज्ञान तथा संबद्ध विषयों को अँग्रेजी भाषा की तुलना में अपनी मातृभाषा में कही अधिक अच्छी तरह से समझाया

¹³ एक कक्षा एक पढ़ाई हिन्दुस्तान, 17 फरवरी 2010

¹⁴ सक्सेना. एस. सी. 2009, शिक्षा का माध्यम और भारतीय भाषाएँ, योजना, 53.9 पृ. 39-40

¹⁵ अबादजी. हेलन. 2006, एफिसिएन्ट लर्निंग फॉर द पुअर - इनसाइट्स फ्रॉम द फ्रन्टियर ऑफ कॉग्निटिव न्यूरो साइन्स, वर्ल्ड बैंक.

जा सकता है। कारण है कि विषय को समझने से पहले अँग्रेजी भाषा को समझने में मानसिक विकास में बाधा पड़ती है और विषय को रटने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रह जाता।

हमारे देश में अँग्रेजीवादी लोगों के समक्ष रोजगार के अवसर अधिक सुलभ हैं इसलिए लोग अँग्रेजी पढ़ने-पढ़ाने में लगे हैं और अपनी भाषा छोड़ रहे हैं। सरकार चाहे तो ऐसी परिस्थितियाँ अवश्य बन सकती है कि विभिन्न भारतीय भाषाएँ भी रोजगार-परक बन जाएँ।

विभिन्न आयोगों एवं समितियों ने समय-समय पर प्राथमिक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा करने का सुझाव दिया है परन्तु आज तक उनके सुझावों पर पूर्णरूपेण अमल नहीं किया गया। उल्टे विभिन्न राज्य सरकारें (यथा गुजरात) अँग्रेजी को प्रथम कक्षा से ही पढ़ाने की इच्छुक हैं।¹⁶

शिक्षा में गुणात्मक परिवर्तन का आधार उन तत्वों को बनाया जाना चाहिए जो आज के इस वैश्वीकरण के दौर में मानव जीवन को अधिक प्रभावित कर रहे हैं जैसे सूचना एवं संचार क्रांति तथा शांति के लिए शिक्षा। परन्तु इस बात का भी ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए कि शिक्षा के द्वारा स्थानीय आवश्यकताओं की भी पूर्ति हो। अतः स्थानीयता को केंद्र में रखते हुए वैश्विक शैक्षिक परिप्रेक्ष्य में शिक्षा में परिवर्तन लाया जाना चाहिए।

शिक्षार्थियों को इतनी स्वतंत्रता और अवसर उपलब्ध कराए जाने चाहिए कि वे उत्कृष्ट स्तर के कौशलों और दक्षताओं से परिचित हो पाएँ और अपने अर्जित कौशलों और दक्षताओं का उपयोग 21वीं सदी की आवश्यकताओं को पूरा करने के

लिए कर पाएँ। इसके लिए आवश्यक है कि माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में विविधता एवं लचीलापन लाया जाए।

आदिवासियों की शिक्षा पर और अधिक ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रमों के चलाए जाने के बावजूद उनकी स्थिति में अपेक्षित सुधार नहीं हुआ है। आदिवासियों की शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य होने चाहिए—

- आदिवासी मनुष्यों में उदासीनता कम करके उन्हें कार्य प्रवृत्त करना।
- आदिवासियों में जीवन के प्रति अभिलाषा एवं आकाँक्षा उत्पन्न करना।
- उनमें यह आत्मविश्वास जगाना कि परिश्रम से वे अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं।
- प्रचुर मात्रा में उपलब्ध उपयोग में न लाये गये साधन, संपत्ति तथा श्रमशक्ति के उपयोग से पूँजी निर्मित करना।
- जहाँ तक संभव हो आदिवासी बच्चों को प्राथमिक शिक्षा उनकी मातृभाषा में देना।
- उन्हें ऐसे शिक्षक उपलब्ध कराना जो उनकी भाषा जाने जिससे कि आदिवासी बच्चे उनके साथ सहज अनुभव कर पाएँ और जो उनकी जीवन शैली को जाने, उनकी इज्जत करे न कि उसे हेय दृष्टि से देखे।
- आदिवासियों की शिक्षा का स्वरूप उनके समाज की पृष्ठभूमि को केंद्रित करता हुआ हो। पाठ्यक्रम ऐसा हो कि आदिवासी आधुनिक शिक्षा के साथ-साथ अपने परंपरागत मूल्यों को भी ग्रहण कर पाएँ।

¹⁶ स्वामिनाथन. ए. ए. एस. 2010, द फर्स्ट लर्निंग इज बेस्ट इन मदर टंग. द सण्डे टाइम्स ऑफ इंडिया, 31 जनवरी 2010

जहाँ तक उच्च शिक्षा का प्रश्न है इसके लिए आवश्यक है कि विश्वविद्यालयों को स्वतंत्रता दी जाए – सोच में, विचार में स्वतंत्रता। नए पाठ्यक्रमों का निर्माण विश्वविद्यालय में होना चाहिए। विश्वविद्यालय में भी यह स्वतंत्रता और स्वायत्तता शिक्षकों तक जानी चाहिए। विभिन्न विषयों में भी विभाजन ऐसा हो कि वे एक दूसरे से मिलकर फले-फूले न कि बिल्कुल अलग होकर रह जाए।¹⁷

उच्च शिक्षा और श्रम बाजार के संबंध मजबूत किए जाने चाहिए। बेरोजगारी और कौशल की कमी की समस्या का हल निकालने के लिए ऐसे उपायों की आवश्यकता है जो उच्च शिक्षा और नौकरियों को आपस में जोड़ पाए। व्यवसायिक प्रशिक्षण और उच्च शिक्षा के बीच संबंधों को मजबूती प्रदान की जाए। इससे छात्र अपनी शिक्षा और बाजार में आने वाले रोजगार अवसरों के बीच संबंध बना पायेंगे तथा उसका पूरा लाभ उठा सकेंगे। यशपाल समिति रिपोर्ट (2009) में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ए.आई.सी.टी.ई., एम.सी.आई.ए. जैसी 13 नियामक संस्थाओं को समाप्त कर चुनाव आयोग की तरह एक

सर्वसमाहित राष्ट्रीय उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान आयोग के गठन का सुझाव दिया गया है जो स्वागत योग्य है और इसे जल्दी से जल्दी गठित कर दिया जाना चाहिए।

विकास और नवाचार की नयी शताब्दी की ओर बढ़ने के लिए हमें शिक्षा के क्षेत्र में नयी संरचनाओं और विचारों की आवश्यकता है। लोगों को अच्छी गुणवत्ता वाली शिक्षा प्रदान करने के मामले में ऐसा बहुत कुछ है जिसे सरकार के लिए करना जरूरी है परंतु समाज को भी वैसा ही दायित्व निभाना होगा। देश में आज जो विशाल असमानता दिखाई दे रही है वह ज्ञान प्राप्ति के पक्षपातपूर्ण रवयों के कारण है इसके निराकरण के लिए हमें शिक्षा के अवसरों में पर्याप्त वृद्धि करनी होगी, एक ऐसी शिक्षा प्रणाली लानी होगी कि कोई भी इसकी परिधि से बाहर रह सके। अतः देश के विकास को गति देने के लिए एक ऐसी शिक्षा प्रणाली के गठन की आवश्यकता है जो नवाचार और उद्यमिता को बढ़ावा दे सके और बढ़ती अर्थव्यवस्था की कौशल आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

¹⁷यशपाल, 2009. विश्वविद्यालय एवं समाज के बीच संवाद आवश्यक, योजना 53.9 पृ. 7-9

‘सीखने’ का मिथक*

जॉन हॉल्ट

विद्यालयों में सीखने को किताबी ज्ञान, मूल्यांकन पाठ्यक्रम पूरा करने तक ही सीमित माना जाता है। अमेरिकी शिक्षाविद् जॉन हॉल्ट के इस आलेख में सीखने को विस्तृत परिप्रेक्ष्य में देखा गया है तथा इसे गहराई से विश्लेषित किया है जिसकी जरूरत कक्षा में काम करते हुए कहीं न कहीं महसूस होती है। यह पुस्तक अंश एकलव्य, भोपाल द्वारा प्रकाशित व हिन्दी में अनुदित पुस्तक ‘शिक्षा की बजाए’ से लिया गया है व ‘प्रारम्भ’ पत्रिका से साभार प्रकाशित किया जा रहा है।

कई लोगों को शायद लगेगा कि पता नहीं क्यों मैं ‘सीखने’ की बजाए ‘करने’ या ‘चीजों को बेहतर ढंग से करने’ की बात करता हूँ। इसका एक कारण तो यह है कि ‘सीखना’ शब्द से लगता है (जैसा कि कई लोग मानते भी हैं) गोया सीखना शेष जीवन से अलग कोई चीज है, कि हम सीखने का काम तभी करते हैं, या तभी अच्छी तरह से करते हैं जब कुछ और न कर रहे हों, और उसी स्थान पर करते हैं जहाँ और कुछ नहीं किया जाता। स्कूल में पढ़ा हर व्यक्ति मानने लगता है कि यदि (1) मुझे कोई भी महत्वपूर्ण बात सीखनी है तो मुझे स्कूल नाम की जगह पर जाना पड़ेगा और शिक्षक नामक कोई व्यक्ति ढूँढ़ना पड़ेगा जो मुझे वह बात सिखाएगा, (2) यह प्रक्रिया उबाऊ और कष्टदायक होगी, तथा (3) मैं

शायद सीख नहीं पाऊँगा।

यह विचार काफी नया है कि हर महत्वपूर्ण चीज स्कूल में सीखना जरूरी है। अभी हाल तक अधिकतर लोग यह बात भलीभाँति समझते थे कि कुछ चीजें स्कूल में ही अच्छे से सीखी जा सकती हैं किन्तु अन्य चीजें हैं जिन्हें लगभग उतने अच्छे से या उससे भी बेहतर स्कूल से बाहर सीखा जा सकता है और कई चीजें तो स्कूल में सीखी ही नहीं जा सकती। वे लोग शायद इस बात पर हँसते हैं कि सारा ज्ञान और विवेक कक्षाओं और किताबों में रखा या पाया जा सकता है। आज भी जो लोग मानते हैं कि सब कुछ स्कूल में ही सीखा जाना चाहिए, उन्होंने भी खुद सब कुछ स्कूल में नहीं सीखा है।

*‘प्रारम्भ’ शैक्षिक संवाद शिक्षा की त्रैमासिक पत्रिका, वर्ष-5, अंक-3 जुलाई-सितम्बर 2007 से साभार प्रकाशित

मैं जो कुछ जानता हूँ, उसमें से अधिकाँश मैंने स्कूल में नहीं सीखा है। इतना ही नहीं, यह सब मैंने उन स्थितियों में भी नहीं सीखा है जिन्हें लोग 'सीखने की स्थितियाँ' कहते हैं, अर्थात् वे अनुभव जिनसे मैं कोई खास चीज सीखने के मकसद से गुजरूँ। मैं जो कुछ भी करता हूँ वह 'कुछ सीखने के मकसद' से नहीं करता। मैंने संगीत व संगीत रचना के बारे में जो कुछ सीखा है वह रिहर्सल और कार्यक्रमों में जा-जाकर सीखा है। मैं वहाँ संगीत के 'बारे में सीखने' नहीं जाता। मैं तो वहाँ इसलिए जाता हूँ क्योंकि वहाँ जो कुछ देखता सुनता हूँ वह मुझे अच्छा लगता है। अन्य देशों और अपने ही देश के अन्य इलाकों की यात्राओं के दौरान मैंने उन जगहों के बारे में काफी कुछ सीखा है। मगर मैं वहाँ 'सीखने' नहीं, लोगों से मिलने-जुलने और कुछ काम करने गया था। पिछले एक-दो वर्षों से मैंने अपने शहर बॉस्टन में अन्य नागरिकों के साथ मिलकर एक खराब व कुटिल तथाकथित नगर विकास योजना को रुकवाने या कम-से-कम कुछ देर तक टलवाने के लिए काम किया है। इसमें मैंने कानून, राजनीति और नगर की अर्थ व्यवस्था के बारे में काफी कुछ सीखा। किन्तु मैं इस काम में यह सब सीखने के लिए नहीं बल्कि अपने नगर को लूट और तबाही से बचाने के लिए जुड़ा था। मैं कई किताबें और पत्रिकाएँ पढ़ता हूँ, किन्तु उनमें जो कुछ है उसे 'सीखने' के लिए नहीं। मैं इन्हें पढ़ता हूँ। क्योंकि मुझे लगता है कि ये शायद दिलचस्प, मददगार और रोमांचक होंगी। कभी-कभार मैं कुछ पता करने के लिए भी पढ़ता हूँ, मगर मैं सीखूँगा या नहीं,

यह इस बात पर निर्भर है कि वह मेरे काम में या जीवन में या जीवन का लुत्फ उठाने में मददगार है या नहीं।

एक बात मैं पहले कह चुका हूँ, और उसे यहाँ दोहराना चाहता हूँ सीखने वाला सर्वोत्तम समुदाय जो मैंने देखा है और जिसका मैं सदस्य रहा हूँ, वह न तो सीखने वाला समुदाय कहलाता था, न ही यह उसका मकसद था। वह द्वितीय विश्व युद्ध की एक पनडुब्बी थी-(यू.ए.एस.एस. बार्बेरो)। हम इसमें 'सीखने' के लिए नहीं बल्कि स्कूल में मदद देने के लिए थे। उस समय के लाखों लोगों की तरह हम भी 'सीखने' के बारे में नहीं सोचते-बतियाते थे। इस कठिन काम को साथ-साथ करते हुए हमने काफी कुछ सीखा और अपने अनुभव व हुनर अधिक से अधिक लोगों के साथ साझा किए। एक सचमुच जीवन्त समाज में सारे लोग ऐसा ही महसूस करेंगे। कोई नहीं चाहता कि बाकी लोग अज्ञानी, हुनरहीन या बेवकूफ बने रहें ताकि वह उन्हें आसानी से छल सकें या उन पर नियन्त्रण कर सकें या उनकी कीमत पर खुद धनवान बन जाएँ। एल्डाउस हक्सले द्वारा लिखित 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड' में एक पात्र वर्ल्ड कंट्रोलर मुस्तफा मोण्ड कहता है कि एक प्रयोग के बतौर ऐसा एक समाज गठित किया गया था जिसमें सब अल्फा ही अल्फा (अक्लमन्द) थे, मगर यह चला नहीं और कभी चल नहीं सकता था। हक्सले गलत थे। हमारी पनडुब्बी ऐसा ही एक समाज था (और भी कई हैं), और वह किसी अन्य तरीके से चल ही नहीं सकता था। त्रासदी यह है कि कई लोगों को सिर्फ युद्ध के समय ही ऐसे समाज में रहने का मौका मिलता है।

‘सीखने के अनुभव’ की बात के साथ दिक्कत यह है कि इससे लगता है कि अनुभव दो प्रकार के होते हैं – एक वे जिनसे हम कुछ सीखते हैं, और दूसरे वे जिनसे हम कुछ नहीं सीखते। किन्तु ऐसा तो कोई अनुभव नहीं होता जिससे हम कुछ ना सीखें। हम जो भी करें, या जो भी हमारे साथ हो या हमारे साथ किया जाए, उससे हम कुछ न कुछ तो सीखते ही हैं। यह हो सकता है कि जो कुछ हम सीखें वह हमें अधिक जानकार या अज्ञानी बना दे, अधिक समझदार या अधिक नासमझ बना दे, ज्यादा सशक्त या कमजोर बना दे, मगर हम कुछ न कुछ सीखते जरूर हैं। क्या सीखा, यह उस अनुभव तथा उससे भी ज्यादा इस बात पर निर्भर होता है कि उस अनुभव के बारे में हम कैसा महसूस करते हैं? इस किताब का एक प्रमुख बिन्दु यह है कि ऐसे अनुभवों से सीखने की संभावना बहुत कम होती है जो हमें हमारे शेष जीवन की महत्वपूर्ण व दिलचस्प चीजों से गहरे में जुड़े हुए न लगें। जिज्ञासा कभी निठल्ली नहीं होती, यह वास्तविक सरोकारों और वास्तविक जरूरतों में से पैदा होती है। इससे भी जरूरी बात यह है कि हम जबरन अनुभवों से या ऐसी चीजों से कुछ अच्छा नहीं सीख सकते जिन्हें किसी दूसरे ने प्रलोभन देकर, धमकाकर, दादागिरी करके लल्लो-चप्पो करके या छलपूर्वक हमसे करवाया हो। ऐसे अनुभवों से अकसर हम गुस्सा, आक्रोश और उससे भी ज्यादा खुद के प्रति नफरत सीखते हैं यह सोचकर कि हमने अपने आपको दूसरे के द्वारा धकियाए जाने और इस्तेमाल किए जाने की इजाजत दी, कि हम चतुर व सशक्त बनकर प्रतिरोध और

इंकार न कर सकें। कुछ लोग दलील देंगे कि अधिकांश लोग रोजमर्रा की जिन्दगी में कई सारे नीरस, बारम्बार दोहराए जाने वाले निरर्थक काम करते हैं, जैसे भीड़-भाड़ में घंटों कार चलाना, टेलिविजन देखना आदि, जिनसे वे कुछ नहीं सीखते। किन्तु सच्चाई यह है कि वे कुछ न कुछ सीखते जरूर हैं। मूर्खतापूर्ण काम करने वाले लोग उस काम से और काम को करने की अपनी मजबूरी से नफरत करना सीखते हैं और धीरे-धीरे उन सारे लोगों से नफरत करना सीखते हैं जिन्हें यह काम नहीं करना पड़ता। भीड़-भाड़ में कार चलाने वाले लोग अन्य कार चालकों, पैदल लोगों को एक बाधा, एक उत्पात, और यहाँ तक कि शत्रु के रूप में देखना सीखते हैं जो उन्हें अपनी मंजिल तक नहीं पहुँचने दे रहे हैं। इसी प्रकार से टेलिविजन देखने वाले बार-बार यह सीखते हैं कि पर्दे पर दिखने वाले ‘वास्तविक’ या ‘काल्पनिक’ लोग हर मायने में उनसे बेहतर हैं—अधिक युवा, अधिक खूबसूरत, अधिक चतुर, अधिक शक्तिशाली, अधिक तेज, अधिक बहादुर, अधिक सम्पन्न, अधिक प्रसन्न, अधिक सम्मानित। अंततः जब काल्पनालोक से यथार्थ में लौटने, थके-थके उठकर टी.वी. बंद करने का वक्त आता है तो उनके दिमाग में यही विचार आता है कि ‘काश, मैं उनके जैसा होता।’

कोई अनुभव हमें किस तरह बदलेगा, यानी हम उससे क्या सीखेंगे, यह इस बात पर निर्भर है कि उस अनुभव की गुणवत्ता क्या है, उससे हमें कितना संतोष, आनन्द और रोमाँच मिला या नहीं। इसलिए जैसा कि मैंने ‘बच्चे असफल कैसे होते हैं’ में लिखा था, यदि कोई बच्चा ऐसी

स्थिति में है जो उसे अपमानजनक डरावनी और कष्टदायक लगती है तो वह उस चीज को नहीं सीख सकता और नहीं सीखेगा जो शिक्षक उसे सिखाने की कोशिश कर रहा है, और यदि सीख गया तो एकाध दिन में भूल जाएगा। इसलिए जिम हर्नडन की गूँगी कक्षा (देखें हाउ टू सर्वाइव योर नेटिव लैण्ड) के बच्चे कक्षा में वे चीजें भी नहीं सीख पाते थे जो वे स्कूल से बाहर इतनी अच्छी तरह से कर लेते थे। इसीलिए लोग तभी सीख सकते हैं जब वे दृढ़ता, आत्मविश्वास और आतुरता से आगे बढ़ें।

करना ही सीखना है

‘सीखना’ शब्द में एक और आम गलतफहमी यह छिपी है कि सीखना और करना दो अलग-अलग क्रियाएँ हैं। जैसे मुझे ‘चेलो’ बजाते बहुत साल नहीं हुए हैं। मुझे यह वाद्य बहुत अच्छा लगता है, मैं इसे घंटों बजाता रहता हूँ, कड़ी मेहनत करता हूँ और मुझे उम्मीद है कि एक दिन इसे अच्छे से बजा सकूँगा। ज्यादातर लोग कहेंगे कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ उसे ‘चेलो बजाना सीखना’ कहते हैं। हमारी भाषा में इसके लिए कोई और लफ्ज ही नहीं है किन्तु ये शब्द हमारे दिमाग में इस विचित्र विचार को जन्म देते हैं कि निम्नलिखित दो प्रक्रियाएँ सर्वथा अलग-अलग हैं – (1) चेलो बजाना सीखना, और (2) चेलो बजाना। इसका आशय यह है कि पहले मैं प्रथम प्रक्रिया करूँगा और उसे पूरा कर लूँगा फिर मैं प्रथम प्रक्रिया को रोक कर दूसरी प्रक्रिया शुरू करूँगा। दूसरे शब्दों में मैं ‘बजाना सीख जाने तक’ ‘बजाना सीखता रहूँगा।’ इसके बाद मैं ‘बजाना’ शुरू कर दूँगा।

जाहिर है कि यह बकवास है। ये दो अलग-अलग प्रक्रियाएँ नहीं, एक ही प्रक्रिया है। हम किसी चीज को करके ही उसे करना सीखते हैं। और कोई तरीका ही नहीं है। जब हम पहली बार कोई काम करेंगे तो शायद अच्छी तरह नहीं करेंगे। मगर यदि हम इसे करते रहें, हमारे सामने अनुकरण हेतु अच्छे मॉडल हों, और जब हमें जरूरत महसूस हो तब मददगार सलाह मिल जाए और हर बार हम उस काम को भरसक अच्छे से अच्छा करें, तो हम इसे बेहतर करने लगेंगे। समय के साथ हम इसे बहुत अच्छे से करने लगेंगे। यह प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होती। बढ़िया से बढ़िया संगीतज्ञों, नर्तकों, एथलीटों, शल्य चिकित्सकों, विमान चालकों वगैरह सबको लगातार अपनी कला या हुनर का रियाज करते रहना पड़ता है। संगीतज्ञ को रोजाना सुर साधने पड़ते हैं, नर्तक को अभ्यास करना पड़ता है। मैं एक शल्य चिकित्सक को जानता हूँ जो कोई काम न होने पर बगैर देखे एक हाथ से सर्जिकल गाँठ बाँधते रहते हैं ताकि अभ्यास बना रहे। इस मायने में लोग उन चीजों को ‘सीखना’ बंद नहीं करते जिन्हें वे करना जानते हैं, चाहे वे उन्हें कितनी ही अच्छी तरह कर लेते हों। उन्हें रोज इसे अच्छे से अच्छा करना ‘सीखना’ पड़ता है, अन्यथा वे इसे थोड़ी कम अच्छी तरह कर पाएँगे। कूसेवित्स्की के नेतृत्व में बास्टर सिम्फनी के मुख्य बाँसुरी वादक कहा करते थे ‘यदि मैं एक दिन रियाज चूक जाऊँ तो खुद इस अंतर को सुन सकता हूँ। यदि दो दिन का रियाज चूक जाऊँ तो कण्डक्टर को अन्तर सुनाई पड़ता है, यदि तीन दिन की रियाज चूक जाऊँ तो श्रोता भी इस अंतर को सुन लेते हैं।’

शिशु 'तैयारी' नहीं कर रहा है

शिक्षाविद् हर समय 'हुनर' की बातें करते हैं, पढ़ने का हुनर, लिखने का हुनर, संप्रेषण का हुनर, यहाँ तक कि सुनने का हुनर। शब्दों के स्तर पर यह कहना शायद सही हो सकता है कि किसी मुश्किल काम को अच्छी तरह करते समय व्यक्ति कई सारे हुनरों का इस्तेमाल करता है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि कोई मुश्किल काम सिखाने का सर्वोत्तम तरीका यह होगा कि उस काम को अधिक से अधिक अलग-अलग हुनरों में बाँट दिया जाए और फिर एक-एक करके ये हुनर सिखाए जाएँ। जैसा कि बरसाँ पहले व्हाइटहेड ने कहा था, हम किसी काम में शामिल हुनर को उस काम से अलग नहीं कर सकते। कोई बच्चा पहले वाणी के हुनर सीखकर फिर उनका उपयोग करके बोलना नहीं सीखता, कोई बच्चा चलना सीखने से पहले चलने के हुनर नहीं सीखता। वह तो बोलकर बोलना और चलकर चलना सीखता है। जब वह पहले-पहले लड़खड़ाते कदम उठाता है, तो यह अभ्यास नहीं होता। वह तैयारी नहीं कर रहा है। वह चलना सीख नहीं रहा है कि बाद में चलकर कहीं जाएगा। वह तो चल रहा है क्योंकि वह चलना चाहता है, इसी वक्त। उसने इसके बारे में सोच लिया है, अपने दिमाग में पूरा खाका जमा लिया है उसने प्रतीति कर ली है कि उसे पता है कि इसे कैसे किया जाता है, और वह इसे कर सकता है और अब वह यही करने जा रहा है।

हम हुनर और कार्य को अलग-अलग नहीं कर सकते, और जब हम ऐसी कोशिश करते हैं तो अनर्थ करते हैं। बोलना कोई हुनर या हुनर-समूह

नहीं, बल्कि एक कार्य है। इस कार्य के पीछे एक मकसद है। हम चाहे दो वर्ष के हों या बाईस के, हम बोलते हैं क्योंकि हम कुछ कहना चाहते हैं, और किसी से कहना चाहते हैं, और क्योंकि हमें लगता है या हम उम्मीद करते हैं कि हमारे शब्दों का कुछ असर होगा। बोलना शुरू कर रहे बच्चे द्वारा पैदा की गई आवाजों को हम शब्द के रूप में नहीं सुन पाते और शायद वह शब्दों को समझता भी नहीं है। मगर वह अपने पैने अवलोकन से यह सीख चुका है कि बड़े लोग मुँह से जो आवाजें निकालते हैं उनका असर उनकी शेष क्रियाओं पर होता है। उनकी आवाजों से चीजें घटित होती हैं। उसे शायद ठीक-ठीक पता नहीं की क्या घटित होता है और कैसे। मगर वह बड़े लोगों के बोलते समूह का सदस्य होना चाहता है, अपनी आवाज से क्रियाएँ करवाना चाहता है।

इसी प्रकार से, चलना भी एक हुनर नहीं काम है, जिसका एक उद्देश्य है। बच्चा उसी तरह चलना चाहता है जैसे वह बड़े लोगों को चलते देखता है और उन्हीं की तरह तेज-तेज तथा कुशलता से चलना चाहता है, पढ़ना भी कोई हुनर नहीं, काम है। बच्चा अपने चारों ओर लिखित शब्द देखता है, वह देखता है कि बड़े लोग इन शब्दों को देखते हैं, उनका उपयोग करते हैं और उनसे अर्थ हासिल करते हैं। ये शब्द काम करवाने की सामर्थ्य रखते हैं। एक दिन (यदि हम उसे मौका दें तो) वह फैसला करता है कि वह जानना चाहता है कि ये शब्द क्या करते हैं? इनका अर्थ क्या है वह पता कर सकता है और करके रहेगा। इस फैसले के साथ वह पढ़ना शुरू कर देता है। जाहिर है शुरुआत में यह अच्छी

तरह नहीं हो पाता। हो सकता है कि वह एक लफ्ज़ भी न पढ़ पाए। मगर यदि उसे छूट मिले (जो बहुत कम बच्चों को मिलती है) कि वह यही करना जारी रख सके, कि वह अपने तरीके से और अपने कारणों से लिखित शब्दों का अर्थ खोज सके, और इसमें उसे उसके द्वारा चाही गई मदद मिले, यदि यह काम जो उसने खुद के लिए निर्धारित किया उससे छीनकर उसकी जगह उसे किसी अन्य द्वारा ईजाद किए गए और उनके हुक्म से जाने वाले तमाम विखण्डित व अर्थहीन काम न दे दिए जाएँ यदि वह (अधिकाँश अन्य बच्चों की तरह) वयस्कों की इस बात से आश्वत न हो जाए कि वह इस काम को नहीं कर सकता, लिखित शब्दों से अर्थ का अंदाज नहीं लगा सकता, और उसके लिए जरूरी है कि वह किसी शिक्षक से 'पढ़ना' प्राप्त करे जैसे कोई मरीज डॉक्टर से इंजेक्शन प्राप्त करता है यदि खुशकिस्मत हुआ और इन सारी बातों से बच निकला तो वह जल्दी ही, शायद कुछेक महीनों में ही अच्छी तरह पढ़ने लगेगा।

हाल में मैंने शिक्षा की अलग-अलग विचारधाराओं में पढ़ने व पढ़ाने संबंधी शिक्षण पर शोध करने वालों पर एक पत्र लिखा था। मैंने उनसे यह पूछा था कि क्या वे किसी शोध के बारे में जानते हैं जो यह जानने के लिए हुआ हो कि कितने बच्चों ने स्वयं पढ़ना सीखा और कैसे मात्र एक व्यक्ति ने जवाब देकर बताया कि उसने ऐसे किसी शोध के बारे में कभी नहीं सुना। इसके बाद मैंने सैकड़ों शिक्षाविदों से यह बात पूछी है और किसी ने भी ऐसे शोध के बारे में नहीं सुना था। पहली नजर में तो यह बात अजीब

सी लगती है कि पढ़ने के विशेषज्ञों ने सवाल पूछा ही नहीं है, जबकि मेरे विचार में तो यह सवाल सबसे पहले पूछा जाना चाहिए। किन्तु देखा जाए तो यह बात इतनी अजीब नहीं है इस सवाल का जवाब खतरनाक हो सकता है। इससे शायद एक बार फिर उजागर हो कि त्वरित, कार्यक्षम, दूरगामी, उपयोगी और स्थायी सीखना ऐसी चीजें करके होता है जो खुद हमने तय की हों और ऐसी चीजें करते वक्त हमें मदद की दरकार बिल्कुल नहीं या बहुत ही कम होती है।

ज्ञान क्रिया है

इसके आगे, यह भी समझ लेना बेहतर होगा कि जिन चीजों को हम गलती से 'ज्ञान का भण्डार' 'सीखने के क्षेत्र', 'अकादमिक विषय' या 'स्कूली विषय' के रूप में देखते हैं वे संज्ञाएँ नहीं बल्कि क्रियाएँ हैं। ये ऐसी चीजें नहीं हैं जो कहीं स्वतंत्र रूप में अस्तित्व में हैं बल्कि ये वे चीजें हैं जिन्हें लोग करते हैं। कोई नहीं कह सकता कि 'देखा यह जीव विज्ञान है, यह गणित है या यह दर्शन शास्त्र है।' कोई भी भौतिक शास्त्र की तरफ इशारा नहीं कर सकता या हमें रसायन शास्त्र दिखा नहीं सकता। यथार्थ में इतिहास को भूगोल से, या भौतिकी को रसायन से, या दर्शन शास्त्र को भाषा विज्ञान से अलग करने वाली कोई लकीर नहीं है। ये तो यथार्थ और मानव अनुभवों की संपूर्णता के अलग-अलग किस्म के सवाल पूछने के तरीके भर हैं। इतिहास अतीत के कुछ पक्षों के बारे में सवाल पूछने का काम है। इसी प्रकार से भूविज्ञान और पुराजीव विज्ञान है, मगर वहाँ सवाल अलग हैं। भौतिकी

और रसायन के अपने आसपास की निर्जीव दुनिया के बारे में सवाल पूछने के अलग-अलग ढंग हैं। किन्तु ये सब स्वाभाविक रूप से सामूहिक कार्य हैं। इन्हें हम अन्य लोगों के साथ मिलकर करते हैं और कई लोग उन्हें बरसों से करते आए हैं। अर्थात् गणित या भौतिकी या दर्शनशास्त्र का कम-से-कम कुछ हिस्सा तो इस बात से संबंधित होता ही है कि अन्य गणितज्ञों, भौतिक शास्त्रियों ने क्या-क्या किया है। किन्तु हमारा ज्ञान इस बात का रिकार्ड है कि इन लोगों ने क्या किया, कि उन्होंने क्या सवाल पूछे, जवाब

पाने के लिए वे किस तरह आगे बढ़े, उन्हें क्या जवाब मिले और इन जवाबों से उन्होंने क्या निष्कर्ष निकाले। इन क्षेत्रों में हम जो भी करते हैं, वह हमसे पहले अन्य लोगों द्वारा किए गए काम से जुड़ जाता है, उसका हिस्सा बन जाता है। जैसा कि इवान इलिच कहते हैं, कि 'इस दुनियाँ में कोई ज्ञान नहीं है, दुनियाँ तो जैसी है वैसी है।' ज्ञान जिन्दा लोगों के दिमागों में एक प्रक्रिया है। हम कौन हैं और कहाँ हैं और हमारे आसपास क्या चल रहा है? इसे जानने की कोशिश में हम जो कुछ करते हैं वही ज्ञान है।

भारत में शिक्षा शोध की अवस्था

शंकर शरण*

यह लेख देश में स्कूली शिक्षा से संबंधित शोध कार्यों की समीक्षा है। यह समीक्षा दो वर्ष से अधिक समय तक विभिन्न शोध-पत्रों, शोध-संक्षेपों, शोध-रिपोर्टों और शोध-प्रस्तावों के अवलोकन पर आधारित है। साथ ही, शोध से संबंधित कई सेमिनार, कार्यशाला आदि के अनुभव भी इसमें शामिल हैं। जान पड़ता है कि शिक्षा शोध एक भारी ठहराव की स्थिति में फँसा हुआ है। लगभग सभी शोध कार्य एक ही घिसे-पिटे विदेशी मॉडल और विशिष्ट शब्दावली (जार्गन) का अंधानुकरण हैं। उनसे कोई नई जानकारी या विश्लेषण शायद ही मिलता है। फिर, जैसे सतही शोध कार्य करने वाले भी अधिक नहीं मिलते। शिक्षा-शोध को प्रोत्साहन और आर्थिक सहयोग देने वाली समितियों में स्वीकार किए जाने लायक शोध-प्रस्ताव बहुत कम आते हैं। शिक्षा शोध में मुक्त चिंतन के मार्ग में भाषा का अवरोध भी बहुत बड़ा है। अँग्रेजी से एक ओर स्पष्ट अभिव्यक्ति और वैचारिक आदान-प्रदान में बाधा आती है। दूसरी ओर, इससे चल रहे शिक्षा कार्यों की कई कमियाँ छिपी भी रह जाती हैं। इस पूरी समस्या में उचित मार्ग-दर्शन का अभाव भी एक बड़ा कारक है। शिक्षा शोध की वर्तमान अवस्था से संबंधित यह सभी निष्कर्ष कम से कम चार सौ से अधिक शोध-संक्षेपों, रिपोर्टों, प्रस्तावों, पत्रों आदि के अध्ययन के उपरांत लिए गए हैं।

महान रूसी लेखक सोल्झेनित्सिन के उपन्यास 'कैंसर वार्ड' में एक साहित्य प्रेमी पात्र है— द्योमका। अपने बिस्तर पर पड़े वह पुस्तकें पढ़ता रहता है। एक बार उसके वार्ड में साहित्य और लेखन पर बातचीत हो रही थी। उसमें द्योमका

सरल आश्चर्य से बोलता है, 'पहले कितने कम लेखक थे, लेकिन उनकी बातें, कहानियाँ सब याद रहती थीं। आज असँख्य लेखक हो गए हैं, पर उनकी किताबें पढ़ें तो लगता है जैसे कुछ पढ़ा ही नहीं। पढ़ने से पहले और बाद कोई अंतर

* प्रवक्ता, डी.ई.एस.एस.एच., एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली-16

नहीं पड़ता।' जिस सरलता से द्योमका वह कहता है, वह छू लेने वाली है। पर सोवियत काल के लेखन पर उसके अनुभव का अंतर्निहित संदेश गंभीर है।

यदि आज भारत में शिक्षा शोध संबंधी पूरे साहित्य को द्योमका पढ़ता तो उसकी टिप्पणी वही होती। शोध-पत्र, डॉक्टरेट मिले शोध-ग्रंथ, शोध के नए प्रस्ताव, शोध-पत्रिकाएँ, आदि में दी गई सामग्री वैसी ही लगती है। उन्हें पढ़ लेने के बाद पाठक को प्रायः कोई नया ज्ञान या नया विचार नहीं मिलता। सामान्य जानकारियों को ही भारी-भरकम या कृत्रिम रूप में रखकर, और उसी का निरन्तर दुहराव हमारे देश में शिक्षा-शोध की विशेषता-सी बन गई लगती है।

कृपया विचारें-उस खाद्य-प्रदर्शनी को क्या कहा जाए जिसमें प्रत्येक स्टॉल पर केवल खिचड़ी का प्रदर्शन हो। स्थिति की दयनीयता तब और विचित्र लगेगी जब हरेक स्टॉल का संचालक मानता हो कि उसने दर्शक को कोई नई वस्तु दिखाई है तथा अन्य स्टॉलों पर कोई अन्य पदार्थ है। शिक्षा-शोध संबंधी ग्रंथों, शोध-पत्रों, नए प्रस्तावों, किसी शोध की रिपोर्ट आदि पढ़कर अनुभूति होती है कि यही चीज असंख्य बार आ चुकी है। किंतु जैसे शोधकर्ता इससे नितांत अनजान हैं। वह बार-बार एक ही तरह की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। शीर्षकों में मामूली हेर-फेर के साथ एक ही तरह के अध्ययनों से शिक्षा-शोध का भंडार अटा पड़ा है। इसका कारण एक तो यह है कि हमारे देश में शिक्षा-शोध को एक विशेष प्रकार की, अबूझ शब्दावली में बाँध दिया गया है। यह शब्दावली और शिक्षा-शोध का संपूर्ण

मॉडल अमेरिकी मनोविज्ञान संघ (अमेरिकन साइकोलॉजिकल एसोसियशन) के मानकों का अनुपालन करता है। उसके विचारों, सिद्धान्तों और शोध-योजनाओं को ही यहाँ अनुकरणीय आदर्श मान लिया गया है। वही निरंतर सुनते और प्रयोग करते-करते नया शोध-छात्र उस शब्दावली को शोध की अनिवार्य आवश्यकता मान लेता है। उसमें स्वतंत्र चिंतन की क्षमता और कोई नया, साहसपूर्ण लेखन करने की भावना पैदा नहीं होती। अतः जब भी वह कोई शोध-पत्र लिखता या प्रस्ताव देता है, तो उस दुरुह शब्दावली के उपयोग के बिना चलना निरापद नहीं समझता। फलतः एक प्रकार से मात्र अनुकरण और नकल भर करने लगता है। एक नियत मॉडल और शब्दावली के नकल और दुहराव की विवशता धीरे-धीरे पूरे कार्य का दुहराव बन जाती है।

किंतु ऐसा नहीं लगता कि यहाँ इस पर कभी गंभीर विचार-विमर्श हुआ कि आखिर हमारे देश में शिक्षा-शोध के मामले में 'मनोविज्ञान' और 'शिक्षा' को एक क्यों समझ लिया। यह तो एक संपूर्ण विषय की दूसरे विषय पर पूर्ण और अनावश्यक निर्भरता हुई। इसकी कहीं कोई व्याख्या नहीं दी जाती कि ऐसा क्यों कर लिया गया है। दूसरे, जो शब्दावली एक हाल के अमेरिकी समाज की विशेषता, आवश्यकता और आकाँक्षाओं से पैदा हुई, वही हजारों मील दूर स्थित एक ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और गुणात्मक रूप से भिन्न एक समाज के लिए कैसे यथावत् उपयुक्त हो सकती है – इसका भी कहीं विचार किया गया नहीं मिलता। जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि उस दुरुह, विचित्र शब्दावली का निरंतर प्रयोग

शिक्षा-शोध की मुख्य पहचान बन गई है, जिसे प्रायः ठीक से समझा भी नहीं जाता।¹ किन्तु उस शब्दावली के प्रति आदर इतना है कि बिना समझे भी उसे पूरे विश्वास से दुहराया जाता है, ताकि प्रस्तुत पत्र को शोध-पत्र समझा जाए।

नितांत विजातीय मॉडलों और मानकों पर निर्भरता के कारण हमारे शिक्षा-शोध के प्रेरक व्यक्तित्व भी पूर्णतः विदेशी विद्वान ही रह गए हैं। कुछ वर्षों पहले बडोदरा के एक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय में शिक्षा-शोध संबंधी लेखन का प्रशिक्षण देने के लिए एक पाँच दिवसीय कार्यशाला हुई। उसमें 70 से अधिक युवा लेक्चरर, शोध-छात्र उपस्थित थे, तथा उन्हें शोध के विभिन्न पक्षों की जानकारी तथा प्रशिक्षण देने के लिए पाँच दिनों में कोई 25 विशेषज्ञ प्रोफेसर आए थे। लगभग सभी प्रशिक्षु और प्रशिक्षण बुद्धिमान व कर्तव्यनिष्ठ लोग थे, जैसा प्रायः नहीं देखा जाता। किन्तु उन पाँच दिनों, दस सत्रों में इतने लोगों के विचार-विमर्श में कभी एक बार भी किसी भारतीय शिक्षा-चिंतक का नाम नहीं लिया गया।

वह कोई अपवाद घटना नहीं थी। शोध-ग्रंथों, पत्रों, आदि के अंत में दी गई पुस्तक एवं सन्दर्भ सूची में भी दयानंद सरस्वती, रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्री अरविन्द, विवेकानंद, महात्मा गाँधी, गिजूभाई बधेका, डॉ. राधाकृष्णन्, महादेवी वर्मा आदि नाम शायद ही कभी मिलते हैं। जबकि आधुनिक भारत में ठीक शिक्षा के क्षेत्र में इन मनीषियों का बड़ा अवदान रहा है। किंतु आज शिक्षा में इनकी

कोई प्रेरणा नहीं झलकती, यद्यपि इसका कहीं कोई कारण नहीं बताया जाता। न ही कभी विचार करके यह घोषित किया गया है कि इनकी कोई उपयोगिता अब शिक्षा चिंतन या विमर्श को नहीं रही। तब इनके नाम गुम होने का इसके अतिरिक्त कोई कारण नहीं जान पड़ता कि इन सबका स्थान कतिपय विदेशी प्रेरकों ने स्वतः ले लिया है। यह कोई देशी विदेशी वाला संकीर्ण तर्क नहीं है, बल्कि उस एकांगिता और परमुखापेक्षिता का संकेत है जिससे वर्तमान शिक्षा ग्रस्त जान पड़ती है।

एक कठिन पारिभाषिक शब्दावली और विदेशी मानक को अपना आदर्श मान लेने से मानसिक जड़ता से बचा नहीं जा सकता। क्योंकि वह अपने परिवेश से कटा-छँटा यांत्रिक विचार बन जाता है। हमारे समाज की समस्याओं, भावनाओं, आवश्यकताओं और विशिष्टता से वह कम ही जुड़ पाता है। इस प्रकार, एक पूरा विषय वैचारिक जड़त्व का शिकार हो गया है। एक सीमित प्रकार की गतिविधि शिक्षा शोध का पर्याय बन गई है। स्कूलों में विद्यार्थियों, शिक्षकों अथवा माता पिताओं से बार-बार प्रश्न पूछना, उत्तरों को एकत्र करना और उनकी तालिका बनाकर कुछ वर्णन कर देना ही अधिकाँश होता है। उस प्रक्रिया में जिन विचित्र, पारिभाषिक शब्दावलियों का प्रयोग होता है, उनकी कोई आवश्यकता या अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता। फिर भी, निरंतर ऐसी ही गतिविधि ही देश भर में दुहराई जा रही है। विश्वविद्यालयों के

¹ इस प्रसंग में विश्वप्रसिद्ध विद्वान गुनार मिर्डल की टिप्पणी ध्यान देने योग्य है, 'समाज विज्ञान में विचारों को स्पष्ट और सीधे रूप में रखने की महान परंपरा रही है। किंतु हाल के दशकों में समाज विज्ञानियों में अपने को एक अनावश्यक, विस्तृत और विचित्र शब्दावली में बंद कर लेने की प्रवृत्ति आ गई है। इससे प्रायः वे एक-दूसरे की बातें समझ नहीं पाते, कभी-कभी तो अपनी बात भी नहीं।' *ऑब्जेक्टिविटी इन सोशल रिसर्च* (लंदन : जेराल्ड डकवर्थ, 1969), पृ. 42. यह बात हमारे शिक्षा-शोध पर सटीक बैठती है।

डॉक्टर शोध-ग्रंथों तथा शिक्षा-शोध की अकादमिक पत्रिकाओं को सरसरी नजर से देखने पर ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

पिछले वर्षों में प्रस्तुत ऐसे शोध, उनकी रिपोर्टों, सार-संक्षेप, शोध-लेखों, नए शोध के अनेक प्रस्तावों, आदि सामग्री के अध्ययन के पश्चात् कोई अवलोकनकर्ता निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचता है। निस्संदेह, यह निष्कर्ष बिल्कुल सटीक और शत-प्रतिशत ही हों, ऐसी बात नहीं। किसी निष्कर्ष में अतिरंजना अथवा भूल भी हो सकती है। किंतु इन से भारत में शिक्षा-शोध की वर्तमान अवस्था को समझने में सहायता मिल सकती है।

स्थिति को तुलनात्मक रूप से समझने के लिए चिकित्सा-शोध की एक कल्पना करें। क्या ऐसा सोचा जा सकता है कि चिकित्सा-शोध के नाम पर शोधकर्ताओं को केवल थर्मामीटर का उपयोग करना सिखाया जाए, हर तरह के थर्मामीटर, रोगियों पर, स्वस्थ लोगों पर, भिन्न मौसम में, भिन्न स्थानों पर, विभिन्न परिस्थितियों में—किंतु केवल थर्मामीटर का उपयोग, और इससे मिलने वाले परिणाम, साथ ही रोगियों-डॉक्टरों-नर्सों से अस्पताल की व्यवस्था के बारे में तरह-तरह के प्रश्न, उनके उत्तरों को संकलित करके विश्लेषण कर देना-मात्र इन्हीं सीमित कार्यों को यदि चिकित्सा-शोध का मुख्य अंग बना दिया जाए, तो कैसा प्रतीत होगा, कोई भी इसे हास्यापद और मूर्खतापूर्ण समझेगा। क्योंकि चिकित्सा-शोध हर तरह के रोग, हानिकारक जीवाणुओं, विभिन्न रोग के लक्षणों, दवाओं, चिकित्सा उपकरणों, रोगों की रोकथाम के उपाय, आदि असंख्य प्रकार के

अध्ययनों से जुड़ता है। पर शिक्षा-शोध की स्थिति समझने के लिए हमें उसी कल्पना से तुलना करनी होगी, जो ऊपर की गई है।

शिक्षा क्षेत्र में शोध कार्य का लगभग 90% प्रायः स्कूलों में छात्रों, शिक्षकों के बीच प्रश्नावली, साक्षात्कार माध्यम से पढ़ने-लिखने से जुड़ी कठिनाईयों के प्रश्न पूछना, उनका उत्तर एकत्र करना, तथा स्कूली शिक्षा से संबंधित भौतिक सुविधाओं की उपलब्धता या अभाव के आँकड़े इकट्ठा करने से संबंधित है। विभिन्न स्कूलों में, विभिन्न शोधकर्ताओं द्वारा, विविध रूप में यही काम वर्षों से किया जा रहा है। उनमें कोई एक तारतम्य या गंभीरता भी नहीं दिखती क्योंकि सभी अपने तरीके से एक जैसे कार्य कर रहे हैं। उनमें उबाने की हद तक दुहराव तो है ही, किसी गुणवत्ता की चिन्ता भी नहीं है। यहाँ तक कि शोध के शीर्षकों तक में बहुत कम भिन्नता दिखती है। 'क्लास ट्रांज़ैक्शन', 'सेल्फ-परसेप्शन', 'अकेडमिक एचीवमेंट', 'जॉब सटिस्फैक्शन' जैसे जुमले एक ही शोध शीर्षक में अनेक बार मिल सकते हैं। मानो यह धारणाएँ इतनी छोटी और सहज प्राप्य हैं, कि एक ही अध्ययन में सभी को समेट लिया जा सकता है। ऐसे बेमेल, भारी-भरकम उद्देश्यों वाले सैकड़ों शीर्षक मिल सकते हैं जिनके अंतर्गत शोध-प्रबंध प्रस्तुत किए जा चुके हैं। फिर भी, आगे भी वैसे ही शोध का सिलसिला अविराम चल रहा है।

बच्चों और उनके शिक्षकों के संदर्भ में उस 'सेल्फ-परसेप्शन', 'अकेडमिक एचीवमेंट', 'जॉब सटिस्फैक्शन' के आँकड़े जमा करने जैसे सीमित शिक्षा शोध के अतिरिक्त अनगिनत ऐसे विषय हैं

जिन पर शोधकर्ता कभी ध्यान नहीं देते। संभवतः मानसिक जड़ता के असर में अन्य विषयों में कुछ स्मरण करना उपयोगी होगा: शिक्षा का दर्शन, शिक्षा का इतिहास, विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाएँ, शिक्षा में परिवर्तन, महान शिक्षा चिंतकों के जीवन, कार्य और अनुभव, पाठ्यचर्याओं का सामाजिक, दार्शनिक मूल्यांकन, मद्रसा शिक्षा विभिन्न दृष्टियों से पाठ्यपुस्तकों की जाँच परख, स्कूलों में बच्चों को दी जाने वाली सजाएँ, स्कूलों में स्काउटिंग और राष्ट्रीय केडेट कोर (एन.सी.सी.) की भूमिका और उपादेयता, शिक्षक संघों की भूमिका और कार्य, हर जगह फैल रहे ट्यूशन और कोचिंग सेंटर, शिक्षकों और शिक्षा-संबंधी कर्मियों के चयन और नियुक्ति की प्रक्रियाएँ और इनका मूल्यांकन, भारत के असंख्य स्कूलों में 'अनुपस्थित शिक्षकों'² का मामला, समाज के विभिन्न वर्गों की अपने बच्चों की शिक्षा के बारे में आकाँक्षाएँ और अपेक्षाएँ, पूरब और पश्चिम की शिक्षा पद्धतियों की विशेषताएँ, मजहबी और उनके संप्रदायों द्वारा चालित शिक्षा केंद्र तथा उनकी भूमिका, विभिन्न देशों में शिक्षा-तंत्रों का तुलनात्मक अध्ययन, छात्रों का राजनीति से संबंध अथवा छात्र राजनीति आदि-आदि। इन गंभीर, चुनौतिपूर्ण विषयों पर भारत में कोई शोध अध्ययन खोजना एक निराशाजनक प्रयास होगा। जबकि यहाँ हर वर्ष सैकड़ों की संख्या में शोध-प्रबंध, पत्र लिखे जाते हैं। अनेक अकादमिक पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। कहीं भी उक्त विषयों पर कोई सार्थक लेखन पढ़ना कठिन है। यदि हम

गंभीरता से विचार करें तो प्रतीत होगा कि हमारे देश में शिक्षा में शोध की पूरी जमीन बंजर पड़ी है। ऐसा क्यों है?

लगभग 400 से अधिक पीएच. डी. शोध प्रबंधों (Theses), शोध-परियोजनाओं, विभिन्न शिक्षा पत्रिकाओं में प्रकाशित शोध-पत्रों तथा नए शोध प्रस्तावों के अध्ययन के बाद पाया गया कि उपर्युक्त विषय लगभग सभी शोध-कार्य मानों किसी लीक पर चल रहे रूटिन कार्य के समान लगें, जिन्हें अनगिनत बार प्रायः यथावत् दुहराया जा चुका है। इस कारण वर्गीकरण के लिए इन्हें विभिन्न खानों में रखना भी आसान नहीं होता। जानकार विद्वान और प्रोफेसर यह मानते भी हैं।³

शोध के नाम पर ऐसे रूटिन कार्य एक निश्चित अनुष्ठान का रूप ले चुके हैं। अनेकानेक शोध में सबसे पहले तरह-तरह के अनमेल, संभव या संभव लक्ष्यों को शोध के 'उद्देश्य' (ऑब्जेक्टिव्स) के अंतर्गत लिखा जाता है। इन उद्देश्यों में कभी-कभी तो अधिकारिक शिक्षा विभागों और नीति-निर्माताओं के लिए कोई विशेष नीति तक बनाने का लक्ष्य जोड़ दिया जाता है। कहीं-कहीं यहीं पर अध्ययन का औचित्य (Rationale) भी प्रायः यह कहकर दिया जाता कि इस विषय पर शोध उपलब्ध नहीं थे, आदि। इस के बाद शोधकर्ता 'शोध-विधि' (मैथोडोलॉजी) का वर्णन करता है। लगभग 90% शोध कार्यों में इसके अन्तर्गत स्कूली छात्रों अथवा शिक्षकों के

² एन.सी.ई.आर.टी. के पूर्व निदेशक प्रो. कृष्ण कुमार के अनुसार इस विषय पर एक विदेशी शोध को हर कहीं उद्धृत किया जाता है, क्योंकि हमारे विश्वविद्यालयों, शिक्षा संस्थाओं और विभागों के पास इस विषय पर कोई अपना अध्ययन ही नहीं है। उनके अनुसार भारत में प्राइवेट ट्यूशन संबंधी भी कोई सुसंगत अध्ययन और आँकड़ें नहीं मिलते, जबकि जापान के संबंध ऐसी जानकारी व्यवस्थित रूप से उपलब्ध है।

³ उदाहरण के लिए, जामिया मिल्लिया इस्लामिया में शिक्षा संकाय के अध्यक्ष और डीन प्रो. मुहम्मद मियाँ ने हाल में एक मीटिंग में कहा कि अनेक प्रोफेसरों ने शोध के नाम पर एक ही चीज को बार-बार, और भिन्न-भिन्न संस्थाओं के आर्थिक सहयोग से करने की आदत बना ली है।

सर्वेक्षण, उनके लिए प्रश्नावली, उनके विचार या साक्षात्कार लेने की योजना मिलती है। इसके लिए बनाई गई प्रश्नसूची या साक्षात्कार की रूप-रेखा को शोधकर्ता अपना 'उपकरण' (टूल) कहते हैं। प्रायः शोधविधि और उपकरण को अलग-अलग देख, समझ पाना भी कठिन होता है। मानो उपकरण और विधि एक ही चीज हो। उन प्रश्न को छात्रों, शिक्षकों, माता-पिताओं आदि से पूछकर जो उत्तर प्राप्त होता है, वही मुख्य शोध माना जाता है। पुनः उसी के प्रस्तुतिकरण, जो कई बार पूर्णतः दुहराव होता है, को शोध से मिला परिणाम अथवा 'प्राप्ति' (फाईंडिंग्स) की संज्ञा दी जाती है। यह किसी शोध-पत्र या ग्रंथ का अंतिम हिस्सा होता है। इस प्रस्तुति में भी एक ही बात अनेक बार भिन्न-भिन्न अध्यायों या उप-शीर्षक के अंतर्गत लिखी मिलती है। 'प्राप्ति' वाले हिस्से में प्रायः उदारतापूर्वक सामाजिक स्थितियों की आलोचना, उपदेश और सलाहें भी भरपूर मात्रा में रहती हैं। जिनका शोध प्रक्रिया के दौरान मिली सामग्री से कोई संबंध होना भी आवश्यक नहीं माना जाता।

इस प्रकार उद्देश्य, विधि और प्राप्ति के तीन भागों में हरेक शोध विवरण लिखा जाता है। यह केवल किसी शोध की जानकारी देने का रूप भर हो, ऐसी बात नहीं। कई बार इन तीन भागों में किसी प्रकार कुछ बातें, आँकड़े भर देना, उन्हें दुहराते रहना भर शोधकर्ता अपना कार्य मानता है। ऐसा भी लगता है मानो उद्देश्य, विधि और प्राप्तियों को स्वतंत्र रूप से लिखा गया हो।

उनका आपस में सुसंगत संबंध नहीं होता। उदाहरण के लिए, उद्देश्य में जितनी बातें लिखी मिलती हैं उनमें से कई का प्राप्ति वाले भाग में पता भी नहीं मिलता। मानो परिणाम लिखते हुए शोधकर्ता भूल गया कि उसने उसी शोध के आरम्भ में कोई अन्य उद्देश्य भी रखे थे। स्पष्टतः, ऐसे शोध में उसके उद्देश्य का उसकी उपलब्धि से संबंध बनाए रखने की चिन्ता नहीं मिलती। पूरी सामग्री पढ़कर अनुभव होता है कि शोधकर्ता के लिए किसी तरह पन्ने भरकर काम पूरा करना ही मुख्य लक्ष्य रहा।

इसीलिए, कई शोध-कार्य रूटीन अनुष्ठान प्रतीत होते हैं, क्योंकि उसमें किसी नई जानकारी पाने अथवा कोई नया विश्लेषण देने की भावना दिखाई नहीं देती। उनमें लिखे असंख्य वाक्य अथवा पैराग्राफ किसी स्पष्ट अर्थ का बोध नहीं कराते। अनेक स्थलों पर पारिभाषिक शब्दों तथा अन्य विचित्र शब्दावलियों को सार्थक रूप में प्रस्तुत करने की चिन्ता भी नहीं की जाती। जैसे, 'इंपैक्ट ऑफ सोया बेस्ड इंटरवेंशन प्रोग्राम ऑन नॉलेज ऑफ रूरल वूमैन' अथवा 'लोकस ऑफ कंट्रोल ऑफ मेनस्ट्रीम एंड स्पेशल स्कूल फीमेल टीचर्स'⁴। इन दो शोध-पत्रों में दिए गए पारिभाषिक शब्द तथा तकनीकी अर्थ रखने वाली पदावली की कहीं स्पष्ट व्याख्या नहीं दी गई है। मान लिया जाता है कि ये स्वतः अपना अर्थ संप्रेषित कर लेंगे। चूँकि ऐसे शोध-पत्रों पर प्रश्न नहीं उठाए जाते तथा उन्हें स्वीकार कर लिया जाता है, अतः ऐसा लगता है कि दुरुह होने से संभवतः

⁴यह दोनों प्रकाशित शोध पत्र हैं इनका संदर्भ अथवा इनके शोधकर्ताओं का नाम इसलिए नहीं दिया जा रहा है, ताकि उन्हें चोट न पहुँचे। क्योंकि ऐसे उदाहरण नकारात्मक रूप में दिए जा रहे हैं। इस निबंध में हमारा कथ्य शोध की वर्तमान अवस्था का एक संकेत भर करना है।

शोध-लेखन होने का एक प्रमाण। चाहे उससे पाठक को कोई नई जानकारी या व्याख्या न भी मिलती हो।

किंतु गंभीर मूल्यांकन में ऐसे शोध-कार्य को सार्थक नहीं कहा जा सकता। कई बार शोधकर्ता का भ्रम या अज्ञान स्वयं उसके ही शब्दों में स्पष्ट झलकता है। उदाहरण के लिए, जब वह अपने शोध के उद्देश्य गिनाते हुए असंख्य बड़े-बड़े, बेमेल और विचित्र लक्ष्य एक साथ शामिल कर लेता है। वास्तव में शोध किसी एक बिंदु पर ही केंद्रित हो सकता है। उस बिंदु के किसी नए पहलू की खोज अथवा किसी ज्ञात पहलू की नई व्याख्या देना ही शोध कहलाता है। तभी वह पहले से ही उपलब्ध ज्ञान-भंडार में कोई योगदान करता है। किंतु शिक्षा-शोध संबंधी रिपोर्टों और लेखों से कई बार लगता है मानो शोध का यह अर्थ ही न हो। उदाहरण के लिए एक शोध-पत्र में उसके पहले लक्ष्य के रूप में यह लिखा मिलता है - 'टू स्टडी द इनपुट्स प्रोवाइडेड बाय टीचर ट्रेनिंग इंस्टीच्यूशन बिफोर एंड ड्यूरिंग स्कूल एक्सपीरियेंस प्रोग्राम टू हेल्प प्रोस्पेक्टिव टीचर्स इन डेवेलपिंग पॉजिटिव एटीच्यूड टुवार्ड्स टीचिंग'। यह केवल प्रथम लक्ष्य है। इसके आगे अनेक और लक्ष्य रखे गए हैं जो तेरह पृष्ठों के उस शोध-पत्र को हासिल करना था। उस पहले लक्ष्य में ही दो इतने बड़े कार्य हैं, जिनके सार्थक अध्ययन में किसी गंभीर अध्येता को लंबे समय तक पसीना बहाना पड़े। किंतु उक्त शोधकर्ता ऐसे

लक्ष्यों के वजन से अवगत नहीं लगता। इसी कारण कई बार शोधकर्ता अपने शोध की प्राप्ति याँ लिखते हुए अपने ही द्वारा निर्धारित कुछ लक्ष्यों को भूल जाता है। ऐसे शोध पूरे जरूर हो जाते हैं। उन्हें गिन भी लिया जाता है, किसी संस्थान की रिपोर्ट में उसका उल्लेख भी हो जाता है, किंतु उनसे किसी का लाभ नहीं होता। वास्तव में उन्हें कोई पढ़ता भी नहीं,⁵ वे बरसों किसी कोने में धूल खाकर अंततः कबाड़ की भेंट चढ़ जाते हैं।

हमारे शिक्षा-शोध में कुछ विचारों, कुछ शब्दों की अंतहीन तोतारटंत सबसे अधिक दिखने वाला रोग प्रतीत होता है। शोध-विधि पर कार्यशाला में कई प्रोफेसर शोध करने की विभिन्न विधियों के बारे में किताबी बातें पूरे विश्वास से पढ़ाते हैं। विशिष्ट शब्दावली और तकनीकी पदों का भरपूर दुहराव होता है। किंतु उनका वास्तविक जीवन से, लोगों से, उस विषय (शिक्षा, राजनीति, आदि) की आवश्यकताओं या समस्याओं से कैसे संबंध जुड़ता है, इस पर बहुत कम कहा जाता है। शिक्षा के इतिहास का कोई कम ज्ञात पक्ष, या अभी कोचिंग सेंटर्स का फैलाव जैसे किसी विषय पर उन शोध-प्रविधियों का क्या उपयोग है, इसकी व्यावहारिक चर्चा शून्य रहती है। दूसरे शब्दों में, उन विशिष्ट मुहावरों, तकनीकी पदों, गणन और विश्लेषण के कंप्यूटर सॉफ्टवेयरों के उपयोग और पश्चिमी समाज विज्ञान में प्रचलित शोध शब्दावली का निरंतर दुहराव ही शोध-विधि प्रशिक्षण का प्रमुख अंग रहता है। इससे ठीक वही मुहावरे

⁵ संभवतः शोधकर्ता भी अवचेतन मानते हैं कि उनके पत्र या शोध-रिपोर्ट पढ़े जाने के लिए नहीं हैं। संबंधित संस्थान को अपनी रिपोर्ट या पत्र जमा करने के बाद शायद की कभी कोई पूछता है कि 'मेरा शोध कैसा लगा?' अथवा 'क्या आपने मेरा शोध पढ़ा?' शोधकर्ता में ऐसी उत्सुकता न होना दिखाता है कि वे स्वयं अपने कार्य को पठनीय नहीं मानते। संभवतः वे उसे किसी ऑफिस कार्य की तरह लेते हैं, जिसकी अलग से चर्चा का कोई अर्थ नहीं। किसी गंभीर लेखन के बाद लेखक में ऐसा अनुत्सुक भाव नहीं होता।

दुहराने वाले कुछ नए लोग जरूर तैयार हो जाते हैं। किंतु वास्तव में कोई सार्थक शोध करने की उनकी क्षमता में वृद्धि नहीं होती। वे विभिन्न तकनीकों (टूल्स) से कुछ सीमित किस्म के आँकड़े इकट्ठा कर लेने की विधि अवश्य जान लेते हैं।

किंतु 'आँकड़े इकट्ठा करना शोध नहीं है। उन जुटाए गए आँकड़ों या तथ्यों पर चिंतन करना शोध कहलाता है।⁶ इसकी शिक्षा आमतौर पर शोध-विधि कार्यशालाओं में नहीं मिलती। शोध कर सकने के लिए क्या क्षमता होनी चाहिए, कोई शोध विषय कैसे तय किए जाएँ, उनके लिए क्या पढ़ा जाए, किस तरह की अन्य तैयारी की जाए। ऐसे प्रश्नों को विचार के लायक नहीं समझा जाता। क्योंकि शोध-विधि पढ़ाने वाले प्रोफेसर स्टू तोतों की तरह किताबी बातें बोल, पढ़ा देते हैं। 'वे शोध की विशिष्ट भाषा शब्दावली बोलते हैं। वे किसी को शोध करने योग्य नहीं बना सकते।'⁷ क्योंकि उन्होंने स्वयं शायद ही कोई गंभीर शोध किया होता है। ऐसे लोगों से जैसे-तैसे आँकड़े संग्रहित करने के तरीके, तथा शोध-विधि की रटी-रटाई विशिष्ट शब्दावली ही सीखी जा सकती है, कोई शोध करने की दिशा या क्षमता नहीं।

शिक्षा में सर्वप्रचलित शोध प्रक्रिया और तदनुरूप शोधित सामग्री के अंबार बताते हैं कि यह पूरा क्षेत्र एक मानसिक ठहराव का शिकार हो गया है। इसमें शिक्षा शोध की धारणा अत्यंत

संकुचित होकर रह गई है। ऑब्जेक्टिव-मैथड-सैंपल-टूल-फाईडिंग के ढाँचे में ही शोध को बंद कर दिया गया है। इस ढाँचे में कोई इस विषय का अध्ययन कैसे कर सकता है कि श्री अरविन्द की युगांतरकारी 'राष्ट्रीय शिक्षा (1910) का आज क्या महत्त्व है, है भी या नहीं। अथवा लेव टॉल्सटॉय के शिक्षा संबंधी विचारों, जो उनके पूरे जीवन भर के सक्रिय, अविच्छिन्न शिक्षा-कार्य तथा पूरे यूरोप में शिक्षा व्यवस्था के स्वयं अध्ययन पर आधारित हैं—उन विचारों का हमारे लिए क्या उपयोग है। ऐसे विषयों पर शोध करने के लिए कौन-सा 'सैंपल' लिया जाएगा, और कैसा 'क्वेशेचनार' काम आएगा अथवा, समाज विज्ञान विषयों के स्कूली सिलेबस में क्या विशेषताएँ और क्या दुर्बलताएँ हैं, किस तरह वह समाज की ज्वलंत समस्याओं के प्रति विद्यार्थियों को सर्वांग शिक्षा देता है, या नहीं देता या फिर रवींद्रनाथ टैगोर और मारिया मौंटेसरी के शिक्षा संबंधी विचारों की तुलनात्मक⁸ मूल्यवता क्या है ऐसे अनेकानेक विचारोत्तेजक प्रश्न भारत में शिक्षा-शोध में लगी पूरी बिरादरी के लिए महत्त्वहीन हैं। इनके बारे में कभी विचार-विमर्श तक नहीं करते, शोध तो दूर रहा। क्योंकि उन्होंने आँकड़े और प्रश्नोत्तर जमा करने की अति संकीर्ण, दुहराव भरी, लगभग निरर्थक गतिविधि को ही शिक्षा-शोध का आदि-अंत मान लिया है। उसी में सभी संलग्न हैं। किसी तत्त्व-चिंतन से उनका संबंध नगण्य-सा ही है। इसीलिए प्रकाशित शोध

⁶ प्रोफेसर कृष्ण कुमार, पूर्व निदेशक, एन.सी.ई.आर.टी. 27 फरवरी 2009 को शैक्षिक शोध एवं नवाचार समिति (एरिक) की बैठक में

⁷ प्रोफेसर कृष्ण कुमार, पूर्व निदेशक, एन.सी.ई.आर.टी. 27 फरवरी 2009 को शैक्षिक शोध एवं नवाचार समिति (एरिक) की बैठक में

⁸ यदि कभी भूले-भटके कोई तुलनात्मक लेख या शोध-पत्र मिलता भी है तो दो शिक्षा-शास्त्रियों के विचारों की अलग-अलग सूची बिंदुवार दे दी जाती है। अंत में लिखा मिलता है कि 'इस प्रकार दोनों के विचारों में काफी समानता है'

-पत्रों, प्रबंधों, परियोजनाओं में कोई मौलिक शीर्षक मिलना भी कठिन हो गया है।

इस मानसिक जड़ता का ही एक पहलू यह है कि लगभग सभी शोध-विषयों का दृष्टिकोण भौतिकवादी है। शिक्षा से संबंधित भौतिक-सुविधाएँ-ब्लैकबोर्ड, स्कूल भवन, पाठ्यपुस्तकों का आकार, वजन या उपलब्धता, घर से स्कूल की दूरी, शिक्षकों को मिलने वाली सुविधाएँ या उनकी कमी, परीक्षाफलों का प्रतिशत, रोजगार से शिक्षा का संबंध, आदि। ऐसा नहीं कि यह शिक्षा संबंधी अध्ययनों से बाहर हैं, या कि इनका महत्त्व कम है। बात यह है कि शिक्षा संबंधी संपूर्ण चिंतन, अध्ययन और विमर्श इन भौतिक तत्वों तक ही सीमित रहता है। आगे भी, स्कूली शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद छात्र कैसी नौकरी पाता है, क्या कमाता है, किसी स्कूल से कितने छात्र विदेश जाते हैं, आदि ही विचारणीय और उल्लेखनीय चर्चा होती है। शोध में भी यही भौतिकवाद हावी है। शोध विषय तय करने में अ-भौतिक पदों, विशिष्टताओं का समावेश कम ही होता है। 'इमोशनल इंटेलिजेंस' और 'एकेडमिक एचीवमेंट' जैसे पद अनेक बार शोध-विषय और पत्रों में आते भी हैं तो उसमें सार नहीं होता। क्योंकि शोधकर्ता इन्हें भी मूलतः भौतिकवादी दृष्टि से ही नापते हैं। चरित्र निर्माण, सांस्कृतिक और नागरिक मूल्यों का अर्जन, सामंजस्य व्यक्तित्व का विकास, आत्मोपलब्धि जैसे अ-भौतिक तत्वों को गंभीर अध्ययन या शोध का विषय नहीं

बनाया जाता। मानो मनुष्य केवल उपभोग करने वाला प्राणी मात्र हो। उसका कोई भावनात्मक आध्यात्मिक, सांस्कृतिक जगत न होता हो। शिक्षा-शोध में भौतिकवादी दृष्टि का एकाधिकार इसी से स्पष्ट है कि जो शोधकर्ता निजी जीवन में धार्मिक, सांस्कृतिक रुचि के व्यक्ति भी हैं, वे भी शोध में ऐसे विषय नहीं लेते जो शिक्षा के किसी अभौतिक पक्ष को उठाता हो। इसलिए भी शिक्षा शोध में विषयों, अध्ययनों का उबाऊ दुहराव मिलता है।

अपने संकीर्ण दृष्टिकोण और रूटीन विषयों तक सीमित रहने के कारण ही शिक्षा शोध में लगे लोगों की दुनिया भी सीमित हो गई है। न बाहर के लोग उनके कार्यों में रुचि लेते हैं, न ही शिक्षा-शिक्षार्थियों को उनके मंतव्य जानने की कोई परवाह रहती है। मानो शिक्षा अकादमिकों की अपनी दुनिया है, जिसका अन्य लोगों से कोई संबंध नहीं। 'हर कोई अपने बारे में सोचता है, देश के बारे में नहीं। यह शिक्षा के हर अंग में गिरावट का एक बड़ा कारण है।'⁹ यह टिप्पणी कुछ हद तक इस का स्पष्टीकरण हो सकती है कि क्यों शिक्षा शोध से जुड़े लोग आपस में ही एक दूसरे को संबोधित करते हैं, उस वृहत समाज को नहीं जिसमें वे रहते-जीते हैं। इसीलिए उनके द्वारा किए शोध समाज के लिए व्यावहारिक¹⁰ मूल्य नहीं रखते। इसकी चिंता भी नहीं की जाती। शोध करने वाले स्वयं संतुष्ट हैं कि उन्होंने पर्याप्त और अच्छा काम किया है। यह अन्य बात

⁹ प्रो. हुकुम सिंह, *अध्यक्ष*, गणित शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी. 27 फरवरी 2009.

¹⁰ शिक्षा शोध और नीति संदर्श विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रो. मनजीत सेनगुप्ता के अनुसार, 'शिक्षा शोध की हमारी व्यवस्था में सिद्धांत और व्यवहार का साथ नहीं चला है। मैं नहीं जानता क्यों'

है कि उनके अधिकाँश रूटीन शोध कार्य भी बड़ी मात्रा में निम्नस्तरीय ही होते हैं।¹¹

संपूर्ण शिक्षा शोध के अत्यंत सीमित विषयों में बंधे रहने का सबसे प्रत्यक्ष उदाहरण है, कि शोधार्थियों ने हर शहर में चलने वाले व्यस्त कोचिंग सेंटरों पर कोई शोध नहीं किया है। यह कोचिंग सेंटर देश के हर भाग में कम-से-कम तीन दशक से चल रहे हैं। उनकी उपस्थिति और उपयोगिता से शिक्षा से जुड़ा कोई व्यक्ति अनजान नहीं। तब उन पर कोई शोध न मिलना क्या दर्शाता है? यही कि जब कोई शोधकर्ता अपने लिए कोई शोध प्रस्ताव बनाना चाहता है तो वह वास्तव में बाहर समाज में झाँक कर नहीं देखता कि वहाँ क्या चल रहा है, क्या दिख रहा है, क्या बढ़ रहा है या घट रहा है। बल्कि वह कोई देशी, विदेशी शोध-पत्रिका उलटता है। किसी वरिष्ठ प्रोफेसर से पूछता है। क्या विषय या मुहावरा अभी फैशनेबल है, कुछ यही देखकर वह कोई सुविधाजनक विषय निर्धारित करता है। कई बार, शोध के लिए धन देने वाली एजेंसियों की इच्छा भी उसके चयन को प्रभावित करती है।¹² इस प्रकार, इन सभी पट्टियों के कारण एक शोधकर्ता अपने समाज में सामने दिखने वाले विषयों को शोध का विषय नहीं बनाता। बल्कि एक ही विषय पर दर्जनों शोध-पत्र मिलते हैं और दर्जनों विषयों पर एक भी शोध नहीं मिलता।

कोचिंग सेंटरों को अध्ययन विषय बनाने में एक बाधा और है। चूँकि संपूर्ण शिक्षा विमर्श भौतिकवादी दृष्टि से ग्रस्त है, इसलिए वह ऐसे विषय को उठाने में असुविधा महसूस करता है जिसमें उसके पूर्वग्रह और रटे-रटाए निष्कर्ष काम नहीं आ सकते। वर्तमान शिक्षा विमर्श में हर समस्या को अंततः धन और संसाधनों की कमी तक पहुँचा दिया जाता है। चाहे वह स्कूलों का सर्वेक्षण हो, पाठ्यपुस्तकों की स्थिति हो, अशिक्षा, निरक्षरता, अथवा शिक्षा में गुणवत्ता का अभाव, यहाँ तक कि अच्छे शिक्षकों की कमी – किसी भी बिंदु पर विचार अंततः धन की कमी तथा उसे मुहैया कराने तक ही पहुँचता है। यह विचार इतना सर्वव्यापी है कि किसी अन्य संभावना पर ध्यान नहीं जाता। कोचिंग और प्राइवेट ट्यूशन सेंटर हर समस्या में 'धनाभाव' के पूर्वग्रह को सीधे-सीधे झुठलाते हैं। क्योंकि ऐसे सेंटर किसी इलाके में हर तरह के समृद्ध, सुव्यवस्थित निजी, सरकारी स्कूलों के होने के बावजूद पनप रहे हैं। उनमें पढ़ने वाले धनी स्कूलों के छात्र भी होते हैं, जहाँ संसाधनों का अभाव नहीं। उन सेंटरों में साधारण परिवारों के छात्र भी बड़ी संख्या में जाते हैं। अर्थात् उनका परिवार उस अतिरिक्त पढ़ाई के लिए अतिरिक्त और प्रायः ऊँची फीस स्वयं देने के लिए तैयार है। इस प्रकार, किसी भी तरह कोचिंग और प्राइवेट ट्यूशन केंद्रों का फैलाव

¹¹ प्रो. दहिया ने यू.जी.सी. द्वारा प्रकाशित यूनिवर्सिटी न्यूज पत्रिका में अपने किसी लेख में कहा है कि 80% पीएच.डी. थीसिस 'नकली', 'कूड़ा' और 'दूसरों की नकल' होते हैं। महाराजा सायाजीराव विश्वविद्यालय बड़ौदा के प्रो. आर. जी. कोठारी द्वारा वहाँ सितंबर 2009 में हुई एक कार्यशाला में उद्धृत।

¹² महाराजा सायाजीराव विश्वविद्यालय बड़ौदा में शिक्षा और मनोविज्ञान विभाग के अध्यक्ष प्रो. एस. कुमार के अनुसार एक ही तरह के शोध-अध्ययन के पीछे आर्थिक सहायता देने वाली संस्थाओं की प्रेरणा और झुकाव भी कारक हैं। शोधकर्ता उनकी इच्छाओं के अनुरूप शोध-विषय तैयार करते हैं।

समुचित शिक्षा में धन के अभाव के किसी तर्क का समर्थन नहीं करता।

इस परिघटना के अध्ययन में 'रिसोर्स क्रंच' का रोना रोने वाली दृष्टि उलझन में पड़ जाएगी। ऐसा अध्ययन शिक्षा के क्षेत्र में धनाभाव के अलावा, कई अभौतिक तत्वों के अभाव की ओर इंगित करेगा जिस कारण ऐसे सैंटर फल-फूल रहे हैं। यह तत्व है-संपन्न स्कूलों में भी स्तरीय शिक्षा का अभाव, स्कूली शिक्षण के कार्य को मिलता कम आदर, शिक्षकों के चयन में लापरवाही, स्कूल के प्रबंधन में निष्ठा का अभाव, आदि। यह सब ऐसे तत्व हैं जिनका धन की कमी से संबंध नहीं है। यह समाज के मूल्यों, मानसिकता और सांस्कृतिक स्थिति से अधिक जुड़ी समस्याएँ हैं। इनका निदान केवल बजट बढ़ाने से हो ही नहीं सकता। किंतु चूंकि शिक्षा शोध अपनी भौतिकवादी दृष्टि और लीक पीटने पर चल रही है, वही ऐसे मुद्दों को उठाने की सामर्थ्य नहीं रखती। इसीलिए वह कक्षा-भवनों की गिनती, बस्तों के वजन तथा निरक्षरों की गिनती में ही मशगूल रहती है। मानों शिक्षा से जुड़ी अन्य समस्याएँ और पहलू अस्तित्वहीन हैं।

यह एक कठिन वास्तविकता है कि शिक्षा शोध का गिरा हुआ स्तर भी और जिस कारण हो, इसमें धन की कमी कोई कारण नहीं है। स्थिति यह है कि सैंपल-टूल-फाइंडिंग के पिटे-पिटाए ढाँचे में भी ढाँच का काम करने वाले नहीं मिलते। नए शोध प्रस्तावों को वित्तीय मदद देने वाली अधिकारिक मीटिंगों में पाया जाता है कि दस में से

कठिनाई से दो प्रस्ताव किसी तरह स्वीकार होते हैं, जबकि समिति सदस्य अधिक प्रस्तावों को मंजूरी देने के इच्छुक रहते हैं। इसके लिए वे अपनी कसौटियों को ढीला भी करते हैं। तब स्थिति यह है 80% प्रस्ताव किसी लायक नहीं होते। जबकि उन्हें भेजने वाले अधिकांश विश्वविद्यालयों, कॉलेजों में कार्यरत शिक्षा के रीडर, प्रोफेसर जैसे लोग होते हैं। इस स्थिति पर वरिष्ठ शिक्षा अधिकारीगण निरंतर चिंता भी व्यक्त करते हैं।¹³ यद्यपि इसका कोई सीधा या स्पष्ट कारण पकड़ में नहीं आता।

शिक्षा में जो शोध हो रहे हैं, उनका समुचित मूल्यांकन करने की कोई अच्छी व्यवस्था न होना भी एक महत्वपूर्ण पहलू है। प्रायः विश्वविद्यालयों में शिक्षा विभागों में नियुक्त प्रोफेसर ही सारे कार्यों से जुड़े होते हैं। नए शोध प्रस्ताव बनाने, बनवाने, उन पर विचार करने, उन्हें निर्देशित करने तथा उनका मूल्यांकन करने तक सभी कार्यों में उनकी केंद्रीय भूमिका रहती है। यह अपने आप में कोई विशेष बात नहीं। सभी अकादमिक विषयों में अध्ययन और शोध इसी तरह होता है। पर जब किसी विषय में शोध का स्तर निरंतर गिर रहा हो, तब उसके मूल्यांकन और उपाय पर दूसरों द्वारा भी कुछ विचार-विमर्श उपयोगी हो सकता है। यह इसलिए भी उपयुक्त लगता है क्योंकि हाल में शिक्षा संबंधी कुछ अच्छे शोध गैर-शिक्षा क्षेत्रों के शोधार्थियों द्वारा किए गए हैं¹⁴ कई अच्छे लेख भी शिक्षा की पत्रिकाओं से हटकर दूसरी पत्रिकाओं में मिलते हैं। प्रो. कृष्ण कुमार के अनुसार आज का

¹³जैसे, प्रो. जी. रवीन्द्रा, *उप-निदेशक*, एन.सी.ई.आर.टी. इस पर कई बार चिंता व्यक्त कर चुके हैं।

¹⁴प्रो. कृष्ण कुमार *पूर्व निदेशक*, सेवंथ सर्वे ऑफ एजुकेशनल रिसर्च की सलाहकार समिति की बैठक में, 10 दिसंबर 2007, पुनः एक एरिक मीटिंग में, 27 फरवरी 2009.

सामाजिक वातावरण भी ऐसा है कि वास्तविक शोध को प्रोत्साहन नहीं मिलता। लोग तुरंत कोई फल चाहते हैं, जबकि अच्छा शोध प्रायः दीर्घ कार्य और चिंतन का परिणाम ही हो सकता है।

हमारे देश में शिक्षा में शोध और अध्ययन की भाषा अँग्रेजी का होना भी अच्छे शोध के विकास में एक बड़ी बाधा है। साथ ही, इस भाषायी बाधा से किसी शोध की गुणवत्ता का वास्तविक मूल्यांकन नहीं हो पाता। क्योंकि 'शोध की भाषा शिक्षकों की भाषा नहीं है। यह शिक्षा विषय की एक बड़ी समस्या है'¹⁵ यह केवल शिक्षकों की बात नहीं। समाज के वृहत हिस्से, चाहे उसमें कितने ही बुद्धिमान, विचारशील लोग क्यों न हों, शिक्षा शोध संबंधी लेखन और कार्य पर विमर्श में भाग नहीं लेते। क्योंकि यह सब अँग्रेजी में होता है, जो समाज की भाषा नहीं है। इसी कारण, बुरे या निकृष्ट शोध कार्यों का समुचित मूल्यांकन भी नहीं हो पाता। क्योंकि वृहत समाज की दृष्टि से वह बचा रहता है।

स्थिति यह है कि प्रतिष्ठित केंद्रीय विश्वविद्यालयों के चुने हुए शोधार्थी भी अँग्रेजी के सामान्य पारिभाषिक शब्दों का स्पष्ट अर्थ ठीक से नहीं जानते। अर्थात्, जिन शब्दों का वे बार-बार प्रयोग करते हैं, उनके बारे में भी उनकी समझ जैसी-तैसी होती है। उदाहरण के लिए, 'डाटा', 'सोशियोलॉजिकल', 'एथनोग्राफिक', 'प्रोसेस' जैसे शब्दों का अर्थ भी शोध-वृत्ति पाए कई छात्र अधिकारपूर्वक नहीं बता पाते। यानी ऐसे छात्र, जो देश भर से शोध-वृत्ति आवेदनकर्ताओं में पंद्रह में एक के अनुपात में चुने गए हैं। उनके जारी शोध कार्यों की समीक्षा के

लिए हो रही एक बैठक में यह पाया गया कि कई शोध-छात्र उन अँग्रेजी शब्दों की व्याख्या करने में भी असमर्थ हैं, जिनका वे प्रयोग कर रहे हैं। यह स्थिति तब है जब वे किसी न किसी अनुभवी प्रोफेसर के निर्देशन में कार्य कर रहे हैं।

इससे संकेत मिलता है कि अँग्रेजी की बाधा न केवल उनकी है जो अँग्रेजी में नहीं लिखते-बोलते, बल्कि उनकी भी है जो अपना अकादमिक काम इसी भाषा में करते हैं। शोध लेखन पर हो रही एक कार्यशाला में किसी ने पूछा कि 'एन्नोटेटेड बिब्लियोग्राफी' (Annotated bibliography) का क्या अर्थ है, तो उस सत्र का संचालन कर रहे प्रोफेसर उत्तर नहीं दे सके। इसी तरह, 'रिसर्च आर्टिकल' और 'रिसर्च नोट' में अंतर पूछने पर अनेक वरिष्ठ प्रोफेसर भी असहजता महसूस करते हैं, जबकि यह पदावली वर्षों से शोध-पत्रिकाओं में प्रयुक्त हो रही है। कहने का अर्थ यह कि अँग्रेजी के विजातीय माध्यम के कारण भी शोध की गुणवत्ता प्रभावित होती है, क्योंकि माध्यम की कठिनाई हमारे विचारों की अभिव्यक्ति और संपूर्ण आदान-प्रदान के बीच दीवार बन जाती है। हम चाह कर भी अपना संपूर्ण नहीं दे पाते।

ऐसे कारणों से शिक्षा शोध के अपने मूल्यांकनकर्ता भी अँग्रेजी में लिखी शोध-सामग्रियों को प्रायः सरसरी नजर से ही देखते हैं। जैसा ऊपर संकेत है, वे शोध-प्रस्तावों और कार्यों को किंचित उदारता से देखते हैं। इसलिए शोध-पत्र या प्रस्ताव में मौजूद भाषायी अनगढ़ता, खालीपन, भूल या अटपटेपन को तरह (Ignore कर देते हैं) दे देते

¹⁵ प्रो. कृष्ण कुमार पूर्व निदेशक, 28 जनवरी 2008 को इंडियन एजुकेशनल रिव्यू की सलाहकार समिति की बैठक में।

हैं। उसमें दिए गए पारिभाषिक शब्दों तथा अन्य विवरणों से स्वयं कोई अर्थ निकाल कर आगे बढ़ जाते हैं। इससे भाषा संबंधी गहरी कमजोरियाँ, जो जारी शोध कार्यों को प्रतिकूल प्रभावित करती हैं, उन पर पर्याप्त विचार नहीं हो पाता।

शिक्षा शोध के लिए गंभीर अध्येतओं का अभाव भी एक मुख्य समस्या है। पीएच.डी. शोध छात्रों द्वारा चल रहे कार्यों की समीक्षा के लिए हुई एक बैठक में जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय के एक शोधार्थी ने अपनी प्रगति का ब्यौरा देना आरंभ किया। उस ने शुरुआत ही यह कहने से की कि उसने अपने शोध के विषय में कुछ परिवर्तन कर दिया है। यह पूछे जाने पर कि क्या यह उसने औपचारिक प्रक्रिया के द्वारा किया है, वह संभ्रमित हो गया। मानो इसकी क्या आवश्यकता हो गई। वहाँ उपस्थित कई विशेषज्ञों को उसे यह समझाने में दस मिनट लगे कि वह इस प्रकार अपना शोध-विषय बीच-राह मनमाने नहीं बदल सकता। उसी बैठक में, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के एक शोध-छात्र ने अपने शोध की प्रगति बताने में पहले विश्वविद्यालय का इतिहास बताना आरंभ किया। एक मिनट तक सुनते रहने पर भी जब वह अपने विषय पर नहीं आया तो एक विशेषज्ञ ने पूछा कि वह अपने शोध की प्रगति बताए। उत्तर मिला कि आज तो वह उतना ही तैयार करके आया था।

यह उदाहरण संकेत करते हैं कि बड़े साधन-संपन्न विश्वविद्यालयों के चुने हुए छात्र भी शोध-कार्य की गंभीरता से कम ही परिचित हैं। जिन्होंने कई शोध-कार्य किए हैं, ऐसे लोग भी उनके किसी शोध विशेष के बारे में विस्तृत प्रश्न

पूछे जाने पर—जैसे, उन्होंने यह विषय क्यों चुना, इसके लिए उन्होंने क्या अध्ययन किया, इस शोध की विशिष्ट उपलब्धि क्या है, यह कौन-सी नई जानकारी या व्याख्या देता है, अथवा यह किसके काम आ सकता है, आदि—कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाते। मानो उन्होंने अपने शोध के बारे में कभी ऐसे प्रश्नों पर विचार ही न किया हो।

वस्तुतः उनमें अनेक ऐसे हैं जिनमें शोध की योग्यता या प्रवृत्ति नहीं है। किंतु मात्र एक डिग्री विशेष के धारक होने के कारण हर किसी को शोध करने योग्य मान लिया जाता है। यह धारणा भी गड़बड़ी का एक स्रोत है। इसीलिए किसी समाजविज्ञान विषय में एम.ए. किए प्रत्येक व्यक्ति को शोध-प्रविधि की तकनीकी जानकारी देकर उसे शोध के लिए उपयुक्त मान लिया जाता है। किंतु गंभीर अध्ययन और चिंतन के लिए अनिच्छुक व्यक्ति को रिसर्च मैथेडोलॉजी का प्रशिक्षण देकर अच्छे शोध की आशा करना ऐसा ही है जैसे लड़ने में अयोग्य, अनिच्छुक, भीरु व्यक्ति को हथियार चलाने की जानकारी देकर जीत की आशा करना। यदि उपलब्ध शोध की गंभीर परीक्षा करें तो अधिकांश शोधकर्ता पढ़ने-लिखने के प्रति रुचि रखने वाले नहीं प्रतीत होते। उनकी भाषा ही सारी पोल खोल देती है।

इसीलिए शिक्षा शोधकर्ताओं की स्थिति उन यात्रियों जैसी है जिन्हें यह पता नहीं कि कहाँ जाना है। किंतु वे पूरी गंभीरता से यात्रा की सारी तैयारियों में लगे हों। किस सवारी से जाना, रुकने का प्रबंध, रसद, परिचारकों की व्यवस्था आदि। यह सब भी मानो वे अपनी स्वतंत्र बुद्धि से नहीं विचारते, बल्कि किसी जरूरी परंपरा के पालन

के रूप में उन्हें यह सब करना ही हो। शिक्षा शोध के नए विषय लेते, उस पर काम करते, रिपोर्ट जमा करते शोधार्थियों का लेखन कुछ ऐसा ही आभास देता है। अपने शोध कार्यों के बारे में उन्हें इसका कोई भान नहीं कि यह सब किस उपयोग का है।

ऐसे शोधकर्मी अपने आप में प्रथम दोषी नहीं, यदि उन्हें अपने कार्य की वास्तविक उपादेयता की कोई चिंता नहीं है। इस बिंदु पर उनकी स्थिति समाज विज्ञान विषय के पुराने सोवियत स्कॉलरों जैसी ही है। अपने आप में वे बुद्धिमान, योग्य और कर्तव्यनिष्ठ लोग होते थे। अंतरिक्ष विज्ञान समेत प्राकृतिक विज्ञान के हरेक क्षेत्र में उनकी उपलब्धियाँ किसी भी उन्नत देश के समकक्ष थीं। फिर भी क्या कारण है कि लगभग सात दशकों तक (मोटे तौर पर 1922-86 के बीच) उनमें कोई दर्शन शास्त्री, राजनीति शास्त्री, इतिहासकार या साहित्य समीक्षक नहीं हो सका जिसका नाम भी लिया जा सके क्योंकि इन विषयों में वही रूसी लोग उस दौरान सदैव ऐसी चीजें लिखते, प्रकाशित करते, प्रसारित करते रहे जो प्रायः कृत्रिम, अर्थहीन और मिथ्या साहित्य था। उन्हें इसका विशेष भान न था कि उनके द्वारा लिखा गया 'साइन्टिफिक' शोध-साहित्य हास्यास्पद रूप से असत्य है। इसका कारण था कि उन्होंने आरंभ से ही कुछ जड़-सूत्रों को ऐसा वैज्ञानिक दिशा-निर्देशक मान रखा था जिसके अनुरूप ही अध्ययन, शोध आदि हो सकते थे। चूँकि उसी को उनका पूरा समाज, ऊपर से नीचे तक, दिशा-निर्देशक मानता था इसलिए सभी को विश्वास था कि जो वे कर रहे हैं, वह उपयुक्त है। उसके

औचित्य, उपयोगिता आदि पर उन्हें संदेह न था। क्योंकि उसकी परख करने की उनके पास कोई स्वतंत्र, वास्तविक कसौटी नहीं थी। आज भी पश्चिम एशिया और किन्हीं जड़-विश्वासों के निर्देश में चलने वाले समाजों में इतिहास, राजनीति, शिक्षा दर्शन और साहित्य विषयों में वही रोग और खालीपन देखा जा सकता है। जहाँ खुले और स्वतंत्र चिंतन को किन्हीं पूर्व-निर्धारित 'सर्वोच्च सिद्धांत' का अनुपालन करने के लिए विवश किया जाता है।

कुछ उससे मिलती-जुलती स्थिति हमारे शिक्षा शोध की भी है। अपने सभी पहलुओं में शिक्षा का संपूर्ण अर्थ उनके क्रियाकलापों में नदारद दिखता है। हमारे महान शिक्षा चिंतकों ने शिक्षा का जो अर्थ बताया, समझाया है, वह मानो वर्तमान शिक्षा शोधार्थियों के लिए निरर्थक हो गया है। एक सीमित, संकीर्ण गतिविधि ही शिक्षा-शोध है। इसीलिए वास्तव में शिक्षा में शोध उन गतिविधियों का नाम भर है जो इसके अंतर्गत विभिन्न शिक्षा संस्थानों द्वारा की और करवाई जा रही है। एक रूटीन व्यापार, एक प्राणहीन, अनुष्ठान, जिसके घोषित उद्देश्य और वास्तविक उपलब्धियों में बहुत अंतर है। कोई भी दस शोध-पत्र या प्रबंध एक बैठक में देखा जाए, तो उनमें कोई सार्थक विचार या नवीन तथ्यों का संकलन भी जल्द नहीं मिलता। जान पड़ेगा कि उनसे कोई सुसंगत जानकारी और निष्कर्ष निकलने की अधिक चिंता भी नहीं की गई। संभवतः शोध की एक विशिष्ट शब्दावली का उनमें प्रयोग होने के कारण ही ऐसी प्रस्तुतियों को शोध-पत्र या प्रबंध मान कर प्रतिष्ठा दी जाती है। इसमें संदेह है कि ऐसे

गतिविधियाँ किसी कठोर बौद्धिक परीक्षण में अपने नाम पर खरी उतर सकेंगी।

संभवतः यही कारण है कि किसी संस्थान में शोध-पत्रों, पूरी की गई शोध-परियोजनाओं का एक-एक कर गंभीर मूल्यांकन करने, उन पर हर पहलू से विचार करने, तथा उनसे कोई निष्कर्ष निकालने, तथा शोधकर्ता को उसकी जानकारी देने की कोई परंपरा नहीं है। एक नियमबद्ध कार्य की तरह शोध चलते और प्रकाशित होते हैं। उनसे कुछ प्राप्त होता है या नहीं, यह बात ही अप्रासंगिक बनी रही है। सामान्यतः उन पत्रों, प्रबंधों और रिपोर्टों को शायद ही कोई वास्तव में पढ़ता भी है। उनसे कोई लाभ उठाना तो दूर रहा। अतः यह अनुमान अतिरंजित नहीं कि हमारे देश के शिक्षा-शोध साहित्य को यदि द्योमका पढ़ता तो उसकी प्रतिक्रिया यही होती, कि इन्हें पढ़ने के बाद लगता है मानो कुछ पढ़ा ही नहीं।

शिक्षा शोध की दुरावस्था का एक कारण उचित मार्गदर्शन का अभाव भी है। न केवल संपूर्ण शोध-नीति के मार्ग-दर्शन वरन् प्रत्येक शोध का समुचित निर्देशन। यदि वास्तविक शोधकर्ता और वास्तविक मार्गदर्शक हों तो शिक्षा में शोध की स्थिति अविलंब बदल सकती है। हमारे देश में अन्य सभी परिस्थितियाँ सकारात्मक हैं। केवल शिक्षा क्षेत्र में शोध समेत प्रत्येक कार्य के लिए सदैव उपयुक्त व्यक्तियों के चयन की सावधानी बरती जानी चाहिए। औपचारिकता और कागजी खाना-पूर्ती बंद होनी चाहिए। चाहे कम हो, पर शोध सदैव वास्तविक हो, उसे केवल गिनती बढ़ाने की प्रवृत्ति से अविलंब मुक्त करना चाहिए। इस आत्मक छलना से शिक्षा शोध को मुक्त करना ही होगा। स्थिति में सुधार का कार्य इस बिंदु से भी आरंभ किया जा सकता है।

शांति शिक्षा एवं विद्यालयों में शांति संस्कृति की अवधारणा कुछ विचारणीय बिन्दु

आलोक गार्डिया*

पुष्पेश पाठक**

वर्तमान वैश्विक युग में जहाँ ज्ञान के विस्तृत स्वरूप एवं नित नवीन तकनीकों का अभ्युदय हुआ है, वही असहिष्णुता, कट्टरवाद, विवाद, संघर्ष एवं आतंकवाद की निरन्तर आशँकाएँ भी इसी आधुनिक समाज की देन है। उपरोक्त समस्याओं के निदान हेतु बालक व बालिकाओं में शांति आधारित व्यवहार के विकास हेतु शांति शिक्षा की परिकल्पना की गई है। इस संदर्भ में आवश्यक है कि विद्यालयों में शांति संस्कृति की स्थापना की जाए। विद्यालयों में विश्वास का वातावरण, प्रकृति मानव के मध्य सामंजस्य, न्याय करने की शक्ति का विकास एवं अपने व दूसरों के मानवाधिकारों के प्रति सम्मान आदि शांति संस्कृति स्थापना के महत्त्वपूर्ण घटक हैं। प्रस्तुत लेख में शांति संस्कृति की स्थापना हेतु आवश्यक सार्वभौमिक मानवीय गुणों का यथासंभव विवेचन किया गया है तथा शांति शिक्षा अध्ययन-अध्यापन हेतु आवश्यक कुछ महत्त्वपूर्ण सुझावों को भी शामिल किया गया है।

हिंसा चाहे वैश्विक स्तर पर, या राष्ट्रीय स्तर पर, या स्थानीय एवं वैयक्तिक स्तर पर हो उसके नित नए-नए स्वरूप जैसे असहिष्णुता, कट्टरवाद, वर्ग विवाद, संघर्ष, आतंकवाद के रूप में हमारे सामने आ रहे हैं। इन नित नए अनसुलझे विवादों से युद्ध और हिंसा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में जन्म ले रहे हैं इन अनसुलझे विवादों से हमेशा युद्ध व हिंसा जन्म नहीं लेते हैं। परन्तु यह कहना

* वरिष्ठ प्रवक्ता, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ. प्र.

** शोध छात्र, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ. प्र.

समीचीन होगा कि हिंसा और युद्ध अनसुलझे विवादों की कई संभावित प्रतिक्रियाओं में से एक है। प्रत्यक्ष तौर पर हिंसा का तात्पर्य मार-काट एवं एक दूसरे को शारीरिक हानि पहुँचाने तक ही लिया जाता है। परन्तु गाँधी जी के अनुसार हिंसा केवल मार-काट या शारीरिक हानि पहुँचाने तक सीमित नहीं होती है वरन् दूसरों के साथ बुरा व्यवहार करना, दूसरों के प्रति बुरा सोचना, अच्छा आचरण प्रदर्शित न करना एवं परस्पर सहयोग की भावना न रखना भी हिंसा हैं। वर्तमान आधुनिक समाज में हिंसा का यही स्वरूप सामने आ रहा है। जिसके फलस्वरूप अशांति जन्म ले रही है। इसलिए व्यक्तियों, समूहों और राष्ट्रों के संदर्भ में उपर्युक्त अनसुलझे विवादों को सुलझाने के लिए अहिंसात्मक उपाय ढूँढ़ने के कौशलों को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि शांति क्या है? या शांति से हमारा क्या अभिप्राय है? यह एक ऐसा आधारभूत प्रश्न है जो सहज ही दार्शनिक चिंतन की ओर ले जाता है। शांति को स्पष्ट करने से पहले कुछ प्रश्न उठ जाते हैं—क्या शांति वैयक्तिक अनुभूति का विषय है? शांति की प्रकृति कैसी है? क्या शांति मानसिक तनावों व अवसादों की समाप्ति का प्रतिफल है?, क्या शांति मानसिक संतोष की स्थिति है? यदि हम भारतीय दर्शन पर गौर करें तो उसमें जीवन का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति बताया गया है। जहाँ पर मोक्ष जीवन का नितान्त वैयक्तिक पक्ष है, तथा इसकी प्राप्ति हेतु आध्यात्मिक साधना का मार्ग बतलाया गया है। यही आध्यात्मिक साधना शांति का दूसरा पर्याय है। शांति का दूसरा आयाम मनोवैज्ञानिक है। इसीलिए अर्थ एवं काम को

पुरुषार्थ की श्रेणी में रखा गया है। इसके अभाव में वैयक्तिक स्तर पर, परिवार के स्तर पर और समाज के स्तर पर शांति असंभव है प्रत्येक व्यक्ति अपनी मूलभूत मौलिक आवश्यकताएँ यथा अर्थ, काम, भोजन आदि को इसलिए जुटाता है कि जीने के लिए अनिवार्य व न्यूनतम स्तर को वह प्राप्त कर सके। क्योंकि इस स्तर से नीचे चले जाने पर जीवन अभावों से ग्रस्त हो जाएगा तथा शांति स्वतः समाप्त हो जाएगी। अतः निर्धनता, भुखमरी, रुग्णता अशांति के कारण है, दूसरी ओर यदि मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति कोई अनुचित तरीके से करता है, तो व्यक्ति स्वयं के जीवन को सुखमय बनाने के लिए दूसरों की सुविधाओं पर अनुचित अधिकार जमाने लगता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति-व्यक्ति में कलह और संघर्ष शुरू हो जाता है और समाज अशांति की भेंट चढ़ जाता है। अशांति के कारण व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जाति, स्तर, धर्म को लेकर भेदभाव भी है। जब हम अपनी पृष्ठभूमि की आड़ में दूसरों को छोटा दिखाते हैं तब भी अशांति पनपती है। अशांति विद्यालयी व्यवस्था में भी है बच्चों पर विषयवस्तु में न समझ आने का बोझ तनाव बढ़ाता है और अशांति को जन्म देता है। शांति स्थापित करने के प्रयास में हमें इसकी शुरुआत विद्यालयों से करनी होगी। विद्यालयों में शांति का वातावरण स्थापित करना होगा। बच्चों को शांति से संबंधित गतिविधियों से जोड़ना होगा। इसी संदर्भ में गाँधी जी ने कहा था “यदि हमें विश्व में वास्तविक शांति का पाठ पढ़ाना है तो इसकी शुरुआत बच्चों से करनी होगी”। वर्तमान समय में शांति के महत्व को देखते हुए राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण

परिषद् ने शांति के लिए शिक्षा विषय पर एक राष्ट्रीय फोकस समूह की स्थापना की और इसके द्वारा तैयार किए गए आधार-पत्र में दिए गए संबंधित विचारों को राष्ट्रीय पाठ्यक्रमांक की रूपरेखा-2005 में स्थान दिया। बच्चों को शांति के लिए शिक्षा देने से उनमें शांति की संस्कृति उत्पन्न होगी जो व्यक्ति से लेकर विश्व में शांति के संचार के रूप में काम करेगा।

शांति के लिए शिक्षा

शांति को बल द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता, इसे केवल सहयोग एवं सामंजस्य द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है (वार्ड 2001)। कहने का अभिप्राय यह है कि शांति कोई वस्तु नहीं है, जिसे बलपूर्वक हासिल किया जा सके। अगर सच्चे अर्थों में इसे प्राप्त करना है तो हमें व्यक्ति-व्यक्ति के बीच समझदारी को और अधिक विकसित करना होगा। इसके अलावा न तो यह वंशानुगत लक्षण है, बल्कि इसको व्यवहार में सिखाया जाता है। अगर हमें वास्तविक शांति प्राप्त करनी है तो बच्चों को (जो भविष्य में शांति निर्माता की भूमिका भी निभा सकते हैं) यह सिखाना होगा कि कैसे अपने विचारों, भावनाओं व वस्तुओं को दूसरों के साथ बाँटे। इसके लिए शिक्षा को प्रोत्साहित करना होगा। यूनिसेफ (UNICEF) ने शांति शिक्षा को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप परिभाषित किया है जो ज्ञान, कौशल, दृष्टिकोण मूल्यों व व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिए आवश्यक तत्वों को प्रोत्साहित करती है, जिससे बच्चे, किशोर, व युवा इस योग्य हो सकें कि वह किसी भी प्रकार के मतभेदों व हिंसा को

रोकने तथा ऐसी परिस्थितियों को उत्पन्न करने में जो शांति स्थापना की ओर ले जा सके, सक्षम हो सके। इस प्रकार शांति की उपयोगिता को बच्चों के संदर्भ में कनवेंशन ऑन दि राइट ऑफ चाइल्ड (1998) में यह कहा गया है—बच्चों की शिक्षा को इस प्रकार निर्देशित करना होगा कि वे स्वतंत्र समाज में जिम्मेदारीयुक्त जीवन जीने के लिए तैयार हो सकें, जिसमें समझदारी, शांति, सहनशीलता, लैंगिक समानता और सभी के बीच मित्रता निहित हो। अतः शिक्षा एक ऐसा सशक्त माध्यम है, जो जनतान्त्रिक रीति से व्यक्ति में दीर्घकालीन परिवर्तन ला सकती है। वर्तमान समय में आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा व्यवस्था में ऐसे परिवर्तन किए जाएँ कि भावी पीढ़ी को शांति स्थापना के कार्य में निष्ठा के साथ लगाया जा सके। इस दिशा में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान व प्रशिक्षण परिषद् के द्वारा उठाए गए कदमों की प्रशंसा करनी होगी कि उसने अपने राष्ट्रीय पाठ्यक्रम रूपरेखा में शांति को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। परिषद् के इस कार्य द्वारा शिक्षा व शांति के नए आयाम निर्धारित करने होंगे। शांति शिक्षा के संबंध में निम्न बिन्दु विचारणीय है—

1. शिक्षा सामाजिक परिवर्तन की आधारशिला है। शिक्षा ही वह माध्यम है जो समाज के स्वरूप को परिवर्तन करने की क्षमता रखती है समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करती है। ये बुराइयाँ ही समाज में अशांति की जननी हैं। अतः शिक्षा के द्वारा ही उन कारणों (जो समाज में अशांति लाते हैं) का निराकरण किया जा सकता है।

2. शिक्षा के द्वारा विभिन्न संस्कृतियों, समाजों व राष्ट्रों के बीच संवाद उत्पन्न एवं विकसित किया जा सकता है, जो एक दूसरे की संस्कृतियों को समझने तथा उनके बीच आदान-प्रदान करने का आधार प्रस्तुत करती है।
3. समाज में व्याप्त विविधताओं का सम्मान करते हुए उनके बीच सामंजस्य स्थापित करने में शिक्षा की भूमिका सदा से रही है। रंगभेद, साम्प्रदायिकता, नस्लवाद, जातिवाद, कट्टरवाद तथा आतंकवाद जैसी समस्याओं का समाधान करने में शिक्षा व्यक्तियों को सक्षम बनाती है।
4. अन्त में शिक्षा के द्वारा हम वैयक्तिक स्तर पर उस सामंजस्य की भावना को जाग्रत कर सकते हैं, जिसे कभी ऋग्वेद की ऋषिप्रज्ञा ने इस प्रकार साक्षात्कृत किया था (कृष्णलाल, 1993)।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मानसि जानताम्,
 देवा भाग यथापूर्वं सजानाना उपासते।
 समानो मत्रः समितः समानी मनः सह चिन्तेमेषाम्,
 समानं मन्त्रमभि मन्त्रये व समानेन वे हविषा जूहोमि।
 समानी व आकृतिः समानाः हृदयानि वः,
 समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।

अर्थात् हम परस्पर एक होकर रहें, परस्पर मिलकर प्रेम से वार्तालाप करें, समान मन से ज्ञान प्राप्त करें जिस प्रकार श्रेष्ठ जन एक होकर उपासना करते हैं, उसी प्रकार हम भी अपने विरोध त्यागकर अपना कर्म करें। हम सबकी प्रार्थना समान हों, भेदभाव से रहित होकर परस्पर मिलकर रहे, मन, चित्त, विचार समान हों हमारे हृदय समान हों, जिससे हमारा कार्य परस्पर पूर्ण रूप से संगठित हो। इस तरह शिक्षा के द्वारा शांति की स्थापना करना असम्भव नहीं है।

शांति की संस्कृति

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर (1998) के अनुसार शांति की संस्कृति का आधार, प्रजातंत्र, सहनशीलता, तथा मानवाधिकारों का सम्मान करना, मतभेदों तथा हिंसा को रोकने के लिए एक समग्र दृष्टिकोण के रूप में विकास, शांति के लिए शिक्षा, सूचनाओं का सुगम आदान-प्रदान तथा महिलाओं की विस्तृत भागीदारी को प्रोत्साहित करना और ऐसे उपाय करना है जिससे शांति के लिए उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न हो सके। शांति की संस्कृति का सर्वप्रथम आधार प्रजातंत्र का सम्मान करना यथा लोगों में प्रजातंत्र के प्रति जागरूकता, स्वतंत्र रूप से अपने विचारों का आदान-प्रदान करना, स्वतंत्र रूप से निर्णय लेने के लिए प्रोत्साहित करना है। इसके अलावा शांति की संस्कृति नैतिक विकास के साथ उन मूल्यों, दृष्टिकोणों तथा कौशलों पर बल देती है जो प्रकृति व मानव के बीच सामंजस्य बिठाने के लिए आवश्यक है, इसमें जीने की खुशी, प्रेम, उम्मीद और साहस के आन्तरिक संसाधनों के साथ व्यक्तित्व के विकास पर बल देती है। इसमें मानव अधिकारों के प्रति सम्मान करना, न्याय करने की शक्ति का विकास करना, अपने धर्म के अलावा दूसरे धर्मों को सम्मान देना व उनके सांस्कृतिक क्रियाकलापों में भागीदारी के लिए प्रोत्साहित करना, सामाजिक दायित्व की पूर्ति करने हेतु प्रेरित करना शामिल हैं।

सामाजिक न्याय शिक्षा की संस्कृति का महत्वपूर्ण घटक है। सामाजिक न्याय तथा समानता जिसमें गरीबों, वंचितों, शोषितों के उत्पीड़न न किये जाने संबंधी समग्र दृष्टिकोण पर बल देती है, जिसमें अहिंसामूलक समाज के विकास पर

जोर हो, उसे शिक्षा की संस्कृति का केंद्रीय आधार होना चाहिए। अतः शांति की संस्कृति मानव सुरक्षा को समझने व उसे प्रोत्साहित करने पर बल देती है।

शांति की संस्कृति को यूनिसेफ ने इस प्रकार परिभाषित किया है—एक संस्कृति जो सांस्कृतिक विभिन्नताओं को प्रोत्साहित करती है जिसमें विश्वास, मूल्यों, व्यवहार व सहयोग की भावना आदि शामिल हैं, जो परस्पर सुरक्षा, समानता, पृथ्वी के स्रोतों पर इसमें रहने वाले प्राणियों के बीच समान भागीदारी और साथ-साथ रहने को प्रोत्साहित करती है। पीस एजुकेशन इन यूनिसेफ (फाउण्डेशन, 1999) में शांति की संस्कृति के लिए निम्नांकित तथ्यों को रेखांकित किया है—

1. सभी लोगों के बीच विश्वास का वातावरण उत्पन्न करना।
2. सभी लोगों की मूलभूत आवश्यकताएँ यथा, भोजन, पानी तथा अर्थ की पूर्ति करना।
3. पारस्परिक समझदारी को विकसित करना।
4. सूचनाओं के आदान प्रदान करने हेतु लोगों के बीच एक खुला वातावरण विकसित करना।
5. लोगों में सहनशीलता की भावना विकसित करना।
6. विभिन्न धर्मों के प्रति सम्मान की भावना विकसित करना।
7. विभिन्न धर्मों, जातियों, संस्कृतियों व जीवन शैली में सामंजस्य स्थापित करना।

उपर्युक्त तथ्यों के माध्यम से विद्यालयों में, समुदाय में, समाज में, और विश्व में शांति की संस्कृति के वातावरण को स्थापित करने में मदद

मिलती है। शांति की संस्कृति की आवश्यकता को देखते हुए संयुक्त राष्ट्र की सामान्य सभा में दशक 2001-2010 को विश्व के बच्चों के लिए शांति की संस्कृति व अहिंसा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय दशक के रूप में घोषित किया गया है। इसी सभा में शांति की संस्कृति को सभी मूल्यों, दृष्टिकोणों और व्यवहार के तरीके जो मानव विभिन्नताओं और सभी तरह के मानव अधिकारों के प्रति सम्मान करना, हिंसा चाहे किसी भी रूप में हो, अस्वीकार करना और लोगों के बीच समझदारी, स्वतंत्रता, न्याय, समानता, सहनशीलता की भावना के लिए प्रेरित करना हैं, के रूप में परिभाषित किया गया है। अतः शांति की संस्कृति को विकसित करने के लिए शांति की शिक्षा आवश्यक है।

शांति के लिए शिक्षा में अध्ययन-अध्यापन प्रक्रिया—कुछ सुझाव

शांति शिक्षा में अध्ययन-अध्यापन हेतु प्रत्यक्ष विधियों के बजाए अप्रत्यक्ष विधियाँ अधिक उपयोगी हैं। इस हेतु सम्पूर्ण विद्यालयी परिवेश में शांति संस्कृति को अपनाएँ एवं विद्यालयी वातावरण में परिलक्षित करना अति आवश्यक है। शांति अध्ययन-अध्यापन हेतु निम्न सुझाव प्रस्तुत हैं—

1. विद्यालयों में समय-समय पर सांस्कृतिक विभिन्नताओं में समन्वय प्रदर्शित करने वाले तथा धार्मिक उत्सवों से संबंधित कार्यक्रमों का आयोजन किया जाए।
2. ऐसी फिल्मों की सूची तैयार की जाए, जो शांति, न्याय, एकता को बढ़ावा देती हो तथा उन्हें समय-समय पर दिखाया जाए।

3. विद्यालयों में छात्रों से ऐसे कार्यों यथा- सफाई, पौधे लगाना आदि कराया जाए, जिसको सभी बच्चे मिल जुलकर करें, जिससे उनमें परस्पर सहयोग की भावना विकसित हो।
4. किसी भी क्षेत्र में वर्तमान समय में मीडिया की भूमिका को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता है। अतः शिक्षा में शांति के प्रयास में मीडिया को सहयोगी बनाया जाए, तथा समय-समय पर विद्यालयों में बच्चों को शांति से संबंधित विषयों पर संबोधित करने के लिए प्रमुख पत्रकारों के व्याख्यान एवं युद्ध विभीषिका, हिंसा के परिणामों पर आधारित चलचित्र एवं समाचारों का प्रदर्शन किया जाए।
5. शांति से संबंधित विषयों पर विद्यालयों में बच्चों के बीच भाषण प्रतियोगिता का आयोजन किया जाए तथा ऐसी व्यवस्था की जाए कि बच्चों के विचारों को कम-से-कम महीने में एक बार समाचार पत्रों में प्रकाशित किया जा सके।
6. शांति से संबंधित विषयों पर विद्यालयों में समय-समय पर सेमिनार/समूह परिचर्चा का आयोजन किया जाए।
7. विद्यालयों में शिक्षकों व अभिभावकों की संगोष्ठी का आयोजन कर अभिभावकों को शांति से संबंधित व्यवहारों की जानकारी दी जाए।
8. शांति से संबंधित व्यवहारों का ज्ञान देने के लिए शिक्षकों के लिए विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन किया जाए।

9. विद्यालयों में एक ऐसे रीडिंग रूम की व्यवस्था की जाए जिसमें शांति विषयों से संबंधित समाचारों व घटनाओं की पत्रिकाएँ व पुस्तकें उपलब्ध हों।
10. शिक्षकों को शांति व्यवहार के संदर्भ में बच्चों के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए, जिससे बच्चे प्रेरित हो सकें।
11. शांति के व्यवहार को बच्चों में प्रोत्साहित करने के लिए कुछ बच्चों को अच्छा व्यवहार प्रदर्शित करने के लिए पुरस्कृत करने की व्यवस्था की जाए।

यही नहीं, अत्यावश्यक कदम यह होगा कि हम पाठ्यक्रमों और पाठ्यपुस्तकों को ऐसा बनाएँ जिसमें दी गई विषयवस्तु बच्चों में दिन प्रतिदिन के अनुभवों से जुड़ी हों, बच्चे अपने अनुभवों की कक्षा में चर्चा करें और विद्यालयी ज्ञान को इनसे जोड़कर सीखें। इससे न समझ में आने वाली विषयवस्तु के कारण पैदा होने वाला तनाव तो घटेगा ही, बच्चों में समझ का चस्का पैदा होगा जो नई तरह के द्वन्द्वों को मिटाकर शांति की स्थापना में सहायक होगा।

इस प्रकार विद्यालयी परिवेश में शांति संस्कृति की स्थापना कर भावी नागरिकों में शांति उन्मुख व्यवहार सुनिश्चित किया जा सकता है जो केवल भारत में ही नहीं वरन सम्पूर्ण विश्व में शांति के संदेश को संचरित कर सके एवं प्रत्येक बच्चा अपने को विश्व समुदाय का नागरिक अनुभूत कर सके।

संदर्भ

- कृष्णमूर्ति, जे. 1992. एजुकेशन एण्ड सिगनीफिकेस ऑफ लाइफ, चेन्नई, कृष्णमूर्ति फाउंडेशन.
- कृष्णलाल 1993, वेद परिचय, दिल्ली, हिन्दी माध्यम कार्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.
- एन.सी.ई.आर.टी. 2006, नेशनल करीकुलम फ्रेमवर्क 2005, पोजिशन पेपर नेशनल फोकस ग्रुप ऑफ एजुकेशन फॉर पीस, नई दिल्ली.
- एन.सी.ई.आर.टी. 2005, राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005, नई दिल्ली.
- फाउटेन, एस. 1999, एजुकेशन फार पीस इन यूनिसेफ, न्यूयॉर्क, वर्किंग पेपर एजुकेशन सेक्शन, प्रोग्राम डिविजन, यूनिसेफ.
- यूनाइटेड नेशन 1998, कल्चर ऑफ पीस (A/Res/52/13,15 जनवरी 1998, http://www.unesco.org/jyep/07uk/uk_sum_refdoc.htm).
- यूनाइटेड नेशन एसेम्बली, 53 सेसन एजेंडा आइटम 31, 19 नवम्बर 1998.
- यूनाइटेड नेशन जनरल एसेम्बली, 1998, दि कनवेंशन दि राइट्स ऑफ दि चाइल्ड.
- वर्मा. वैद्यनाथ प्रसाद 1972. विश्व के महान शिक्षा शास्त्री, पटना, बिहार हिन्दी अकादमी प्रकाशन.
- वार्ड एशले, जे. 2001. डेवलपिंग ए कल्चर ऑफ पीस एण्ड नान वाइलेंस थ्रू एजुकेशन /<http://www.mkgandhi.org/articles/Peace4.htm/> द्वारा मार्च 2009 में प्राप्त.
- वेल्स. लीच. सी. 2003, ए. कल्चर आफ टीचिंग पीस <http://www.commandreams.org/views03/0616-01.html/> द्वारा मार्च 2009 में प्राप्त.

अँग्रेज़ी शिक्षण*

एन.सी.ई.आर.टी.

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2005 के विकास की प्रक्रिया के दौरान गठित इक्कीस राष्ट्रीय फोकस समूहों ने स्कूली शिक्षा से जुड़े विविध मुद्दों जैसे – पाठ्यचर्या क्षेत्र, राष्ट्रीय चिंताएँ तथा व्यवस्थागत सुधारों पर विस्तार से विचार करते हुए आधार-पत्र लिखे। इन आधार-पत्रों में दी गई चर्चाओं को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा तैयार की गई। एन.सी.ई.आर.टी. की ओर से समय-समय पर की जाने वाली बैठकों, गोष्ठियों, सेमिनारों, प्रशिक्षण एवं अभिविन्यास कार्यक्रमों में इन आधार-पत्रों पर चर्चा की जाती रही है।

इस अंक में 'अँग्रेज़ी शिक्षण' पर बने आधार पत्र में दी गई चर्चाओं को हम आपके साथ बाँटेंगे। इस आधार-पत्र में हमारे देश में अँग्रेज़ी भाषा शिक्षण से जुड़े अनेक मुद्दों पर विस्तार से चर्चा की गई है जैसे अँग्रेज़ी भाषा क्यों पढ़ाई जाए? स्कूलों में अँग्रेज़ी की शुरुआत किस स्तर से की जाए? अँग्रेज़ी भाषा की पाठ्यचर्या के लक्ष्य और स्वरूप क्या हों? इस पाठ्यचर्या का शिक्षण कैसे किया जाए और उसके लिए किस प्रकार के शिक्षक प्रशिक्षण की आवश्यकता होगी तथा अँग्रेज़ी भाषा में बच्चों का मूल्यांकन कैसे किया जाए आदि।

बहुभाषी देश में वैश्विक भाषा

अँग्रेज़ी क्यों?

भारत में अँग्रेज़ी आजकल आम लोगों के लिए शिक्षा में गुणवत्ता के प्रति उनकी आकाँक्षा तथा राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय जीवन में पूर्ण भागीदारी का प्रतीक है। इसका औपनिवेशिक स्रोत अब भुलाया जा चुका है या अप्रासंगिक हो गया है। आजाद भारत में उच्च शिक्षा के लिए इसकी

आरंभिक भूमिका (पुस्तकालयी भाषा, विश्व की रूपरेखा) जो उपयुक्त मानी गई थी, अब सामाजिक व भाषायी रूप से अपर्याप्त मानी जा रही है। अँग्रेज़ी की मौजूदा स्थिति विश्व मंच पर इसकी अत्यधिक उपस्थिति और राष्ट्रीय स्तर पर इसके असर से निर्धारित हुई है। एक अनुमान के अनुसार 2010 तक दुनिया की एक तिहाई आबादी अँग्रेज़ी सीखने वालों में शामिल हो जाएगी (ग्रेडौल

* राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 अँग्रेज़ी शिक्षण राष्ट्रीय फोकस समूह का आधार पत्र, एन.सी.ई.आर.टी. 2008, नई दिल्ली.

1997)।¹ 1990 में हमारी मुक्त अर्थव्यवस्था की शुरुआत से स्कूलों में अँग्रेजी की माँग का विस्फोट हुआ क्योंकि यह समझा जाने लगा है कि अँग्रेजी से अच्छे अवसर मिल सकेंगे (दास 2005)।

हमारे स्कूलों में अँग्रेजी

अँग्रेजी की शुरुआत का स्तर

अँग्रेजी की इस उपस्थिति का स्पष्ट प्रभाव यह है कि आज हर कोई स्कूल के शुरुआती स्तर पर इसकी माँग कर रहा है। अँग्रेजी पढ़ाने वाले पेशेवर लोगों ने लगातार यह सिफ़ारिश की है कि अँग्रेजी की पढ़ाई अपेक्षित: देर से (चौथी, पाँचवीं या छठी कक्षा से) ही शुरु होनी चाहिए और यही सोच नीति-पत्रों से भी जाहिर होती है। किंतु बड़े पैमाने पर खुल रहे अँग्रेजी माध्यम के निजी स्कूलों और सरकारी स्कूली तंत्र में अँग्रेजी की शुरुआत पहले किए जाने से इन नीतिगत स्कूलों और सरकारी स्कूली तंत्र में अँग्रेजी की शुरुआत पहले किए जाने से इन नीतिगत सिफ़ारिशों के प्रति असंतोष का स्पष्ट प्रमाण मिलता है।² इस व्यवस्था की असफलता के बाद भी लोकप्रिय माँग के कारण इस व्यवस्था को और नीचे ले जाया गया। अँग्रेजी की शुरुआत के स्तर पर मसला अब लोगों की आकाँक्षाओं के राजनैतिक प्रत्युत्तर का हो गया है और इसे शुरुआती स्तर से लागू करने के लाभ पर होने वाले अकादमिक विवाद को अप्रासंगिक करार दे दिया गया है।

व्यवस्थागत अनुकूलता और तैयारी की कई समस्याएँ बनी हुई हैं जैसे कि योग्य शिक्षकों का अपेक्षित संख्या में उपलब्ध न होना आदि। परंतु यह आशा की जाती है कि व्यवस्था को लोकप्रिय माँगों के अनुरूप चलना चाहिए उसके खिलाफ़ नहीं। इसीलिए हम इस सवाल पर कई तरीकों से विचार करेंगे। एक तो हमें आशा है कि बहुभाषिकता कई दुष्प्रभावों को दूर कर सकती है जैसे— अपनी भाषा के हास या एकदम समझ न पाने की मुश्किल। दूसरे, हम यह बताएँगे कि जहाँ जरूरत है वहाँ सकारात्मक तरीके अपनाकर हम दी गई परिस्थितियों में ठोस रूप से क्या कुछ हासिल कर सकते हैं। इनका लक्ष्य बच्चे के लिए कक्षा में या उसके बाहर बोधगम्य सामग्री की उपलब्धता की व्यवस्था की पहचान करना है। शुरुआत से अँग्रेजी लागू करने की आम राय बनाने के लिए हमने विशेष अवधि या 'संवेदनशील समय' की प्राक्कल्पनाओं को शामिल किया है जो अँग्रेजी की बहुत पहले शुरुआत का समर्थन नहीं करती।

भारत में अँग्रेजी शिक्षण की विविधता व व्यापकता

आज भारत में अँग्रेजी सीखना-सिखाना, एक तरफ तो स्कूलों की विविधता और अँग्रेजी सीखने के लिए अनुकूल भाषायी माहौल तथा दूसरी तरफ महज परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए किसी पाठ्यपुस्तक को पढ़ाने की व्यापक कक्षा-प्रणालियों

¹ इस अनुमान में शामिल हैं प्राथमिक स्कूल के 15 करोड़ भारतीय बच्चे और इसी स्तर के 12 करोड़ चीनी बच्चे। यह एशिया की स्कूली व्यवस्था में अँग्रेजी के दखल का संकेत है। अँग्रेजी के लिए यह माँग सन् 2050 में पराकाष्ठा पर होगी और बहुत सारे लोग इसे सीख भी चुके होंगे। अरबी, चीनी, जर्मन, हिंदी व स्पेनिश भी भविष्य की भाषा के रूप में उभर चुकी होंगी।

² 2003 में किए गए एन.सी.ई.आर.टी. के शोध के अनुसार अँग्रेजी कक्षा 1 या कक्षा 3 से, 35 में से 26 राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों में लागू कर दी जाती है। केवल सात राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों में यह कक्षा 4 या 5 से शुरु की जाती है।

की व्यवस्था के अर्थ में लिया जाता है। यह शिक्षकों की उन धारणाओं से तय होता है जो अँग्रेजी भाषा शिक्षण के पेशे में लिए गए तरह-तरह के अनुभवों से प्रभावित होती हैं।³ अँग्रेजी शिक्षण की परिस्थितियों की मोटे तौर पर पहचान— (क) शिक्षक की अँग्रेजी भाषा में निपुणता (टी. पी.)* तथा (ख) विद्यार्थियों का स्कूल से बाहर अँग्रेजी से सामना अर्थात् भाषा-ग्रहण के परिवेश में अँग्रेजी की उपस्थिति (ई. ई.)*, से की जा सकती है (विद्यालयों के वर्गीकरण के इन आधारों का संदर्भ—नाग-अरुलमणि 2000)। अतः कुरियन (2005) नीचे दिए गए चार तरह के स्कूलों के उदाहरण देते हैं।

1. $\ddot{A} \ddot{A} \# \text{टी.पी.} \ddot{A} \ddot{A} \# \text{ई.ई.}$ (जैसे अँग्रेजी माध्यम के निजी/सरकारी सहायता प्राप्त सभ्रात स्कूल) : निपुण शिक्षक, परिवेश में विभिन्न स्तरों की अँग्रेजी जिसमें घर में या पहली भाषा के तौर पर अँग्रेजी भी शामिल है।
2. $\ddot{A} \# \text{टी.पी.} \ddot{A} \# \text{ई.ई.}$, (जैसे नए अँग्रेजी माध्यम के निजी स्कूल जिनमें अधिकांश अँग्रेजी व अन्य भारतीय भाषाएँ दोनों का इस्तेमाल करते हैं) : शिक्षक जिनकी सीमित निपुणता है, बच्चों की अँग्रेजी की पृष्ठभूमि कमजोर या नगण्य है और आम अभिभावकों में अँग्रेजी के सहारे उन्नति करने की आकांक्षा है।
3. $\hat{I} \# \text{टी.पी.} \hat{I} \# \text{ई.ई.}$ (जैसे सरकारी सहायता प्राप्त क्षेत्रीय भाषा माध्यम के स्कूल)—जहाँ अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के साथ अँग्रेजी शिक्षण

की प्रथा है। ये विभिन्न शैक्षिक समितियों द्वारा स्थापित, किए जाते हैं तथा यहाँ विभिन्न प्रकार की पृष्ठभूमि से आने वाले बच्चे होते हैं।

4. $\hat{I} \hat{I} \# \text{टी.पी.}, \hat{I} \hat{I} \# \text{ई.ई.}$ (जैसे सरकारी क्षेत्रीय भाषा माध्यम के स्कूल जो जिला या नगरपालिका शिक्षा विभागों द्वारा संचालित होते हैं) : ग्रामीण भारत के बच्चों की बड़ी संख्या इन्हीं में नामांकित होती है। शहरी गरीबों (जिनके अपने परिवेश में संभवतः अँग्रेजी पाने के थोड़े रास्ते हों) का भी एकमात्र विकल्प यही स्कूल हैं। चारों प्रकार के स्कूलों में अँग्रेजी में इनके शिक्षक ही सबसे कम निपुण होते हैं।

जहाँ ये उदाहरण, स्कूल प्रबंधन के प्रकार और शिक्षक की निपुणता व अँग्रेजी के परिवेश के बीच एक अपुष्ट अंतर्संबंध सुझाते हैं, वहीं इन स्कूलों में भी कई विभिन्नताएँ मिलती हैं। निजी अँग्रेजी माध्यम के स्कूलों में सीखने के अवसरों में विभिन्नताएँ हो सकती हैं और यह उनकी असमान भाषा प्राप्ति से जाहिर होता है। (नाग-अरुलमणि 2005)। जिन स्कूलों में कक्षा पुस्तकालय हैं, उनके बच्चे बेहतर ढंग से पढ़ते हैं बजाए उन बच्चों के जो मात्र उबाऊ पाठों और वर्तनी-जाँच तक सीमित रहते हैं। मैथ्यू (1997 : 41) ने एक पाठ्यचर्या-कार्यान्वयन के अध्ययन में पाया कि केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड (सी.बी.एस.ई.) से संबद्धताप्राप्त 2700 स्कूल प्रबंधन का तरीका, वित्तीय स्रोत, भौगोलिक स्थिति, वेतन संरचना, शिक्षकों की प्रेरणा व निपुणता, उनमें

³अँग्रेजी में किसी और विषय के बनिस्वत शिक्षण की मदद के लिए काफी बेहतर संस्थागत व्यवस्था हो सकती है। (पर देखिए नोट 19, जो अँग्रेजी शिक्षा उद्योग और दूसरी भाषा के अधिग्रहण के बीच अंतर करता है)।

*टीचर प्रोफिशिएंसी-टी. पी.

**इंग्लिश इन द एनवायरनमेंट फॉर लैंग्वेज एक्वीजिशन - ई.ई.

आने वाले विद्यार्थी और उनके अभिभावकों की 'कोटियों' के आधार पर 'संस्कृति' में एक दूसरे से भिन्न थे। प्रभु (1987 : 3) ने यह सुझाव दिया कि 'शिक्षण परिस्थितियों के नामकरण को इसीलिए शैक्षणिक प्रस्तावों के औचित्य की सीमा की जाँच में सहायक के रूप में देखा जाना चाहिए' न कि संपूर्ण वर्गीकरण के लिए।

भारत में अँग्रेजी भाषा शिक्षण (इंग्लिश लैंग्वेज टीचिंग)

परंपरागत रूप से अँग्रेजी की पढ़ाई व्याकरण-अनुवाद पद्धति से होती थी। पाँचवें दशक के उत्तरार्द्ध में अँग्रेजी शिक्षण की सरकारी व्यवस्था में संरचनात्मक रूप से स्तरीकृत पाठ्यक्रम को लागू किया गया जो एक मुख्य नवाचारी कदम था (प्रभु 1987 : 10)। यह सोचा गया कि भाषा का शिक्षण उसकी सामग्री के नियोजन को व्यवस्थित करके किया जा सकता है जैसा कि अंकगणित या भौतिकी की पढ़ाई में किया जाता है। (कभी-कभी यह संरचनात्मक दृष्टिकोण सीधे लागू कर दिया जाता था जैसे कि मात्र अँग्रेजी भाषी कक्षाओं पर जोर देकर)। तथापि सातवें दशक के उत्तरार्द्ध में संरचनात्मक विधि के व्यवहारवादी-मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक आधारों ने भाषा को 'मानसिक अंग' समझने वाले चॉम्स्की के संज्ञानात्मक दावे को बढ़ावा दिया।⁴

⁴चॉम्स्की ने ज्ञान और उसे सीखने के बीच दो तरह के आधारभूत भेद बताए हैं। पहला सचेत होकर सीखा जाने वाला ज्ञान, जो काफी मेहनत और सहयोगशील प्रयास से धीरे-धीरे सांस्कृतिक रूप से रचा जाता है (जैसे कि वैज्ञानिक ज्ञान)। दूसरा, वह ज्ञान जो मनुष्य के मस्तिष्क में आने वाले अनुभवों के साथ स्वाभाविक रूप से उभरता प्रतीत होता है। यहाँ सीखे गए ज्ञान की जटिलता परिवेश के जरिए उपस्थित किए गए ज्ञान की तुलना में कहीं अधिक है। इस बेमेलपन को कभी-कभी 'प्लेटो समस्या' कहा जाता है।

⁵इसके अतिरिक्त बाद में पाया गया कि भाषा-सामग्रियों का योजनाबद्ध और व्यवस्थित प्रस्तुतीकरण सीखने वाले के आंतरिक शिक्षण क्रमों से मेल नहीं खाता था। प्रस्तुत और आत्मसात किए गए तंत्रों के बीच का संबंध रैखिक नहीं है। इसमें सीखने वाले के दिमागी व्याकरण का परोक्ष दखल काम करता है।

⁶यद्यपि ज्ञातव्य है कि चॉम्स्की जब 'दक्षता' पद का उपयोग करते हैं तो उसमें व्यवस्थाबद्धता (व्याकरणिकता) और स्वीकार्यता शामिल है। यह भाषा का विविध संदर्भों में सहजता और उपयुक्तता से प्रयोग करने की क्षमता को इंगित करता है।

अँग्रेजी शिक्षण पेशे के लोगों में भी संरचनात्मक विधि के प्रति असंतोष था क्योंकि यह विधि कक्षाओं में शुद्ध वाक्य बनाने की योग्यता के बावजूद शिक्षार्थियों की भाषा को वास्तविक परिस्थितियों में व्यवहार्य या बढ़ सकने की योग्यता नहीं दे पाती थी। यह बाद में समझ में आया कि कक्षाओं में प्रयोग किया जाने वाला संरचनात्मक दृष्टिकोण भाषा की संरचना और कुशलता जैसे दो खंडों में तोड़कर सोच में एक बिखराव और हल्कापन लाता था। भाषा की संरचना केंद्रित शिक्षा ने शिक्षार्थी की 'भाषायी उम्र' और 'मानसिक उम्र' के अंतर को इतना बढ़ा दिया कि मानस को भाषा से बाँधे रख पाना संभव नहीं हो पाता था।⁵

अतः अर्थपूर्ण संदर्भों में भाषा-प्रयोग सिखाने पर बल दिया जाने लगा। ब्रिटिश भाषाविदों का कहना है कि भाषा प्रयोग में व्याकरणिक दक्षता के अलावा कुछ और भी शामिल होता है। इस अतिरिक्त आयाम को बताने के लिए 'संप्रेषण दक्षता' पद का प्रयोग किया गया।⁶ संप्रेषण दक्षता हासिल करने की कोशिश व्याकरणिक दक्षता के आधार पर ही हो सकती है। वस्तुतः संप्रेषण विधि पहली कोटि के स्कूलों में सबसे अधिक सफल रही जहाँ शिक्षक और शिक्षार्थियों में अपने भाषा-ज्ञान पर भरोसा होता है जो उन्हें विविध स्थितियों के

अनुभवों से मिलता है। हालाँकि अधिकाँश शिक्षार्थियों के लिए 'संप्रेषण दक्षता' उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना भाषा में एक बुनियादी या मूलभूत दक्षता हासिल करना (प्रभु 1987 : 13)। सामग्री से समृद्ध सैद्धांतिक प्रविधियों (जैसे कि संपूर्ण भाषा, कार्य-आधरित और बोधगम्य सामग्री तथा संतुलित दृष्टिकोण) का लक्ष्य अर्थ-केंद्रित परिस्थितियों में भाषा का अनुभव दिलाना है ताकि भाषा-व्यवस्था की बनावट मस्तिष्क द्वारा ही संचालित हो।

भाषा पाठ्यचर्या के लक्ष्य

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या का लक्ष्य है—

- एक सुगठित पाठ्यचर्या नीति, जो भाषा शिक्षण और अर्जन के निर्देशक सिद्धांतों पर आधारित हो, जो स्थानीय जरूरतों और संसाधनों के अनुकूल विविध तरीकों को अपना सके तथा जो उपयोग के लिए व्याख्यात्मक मॉडल उपलब्ध कराए।

पाठ्यचर्या नवीकरण के पिछले प्रयासों पर विचार हमारे विवेचन में दुहराए जाने की समस्या खड़ी करता है। फिर भी हम आशा करते हैं कि भाषाविदों, मनोवैज्ञानिकों और अन्य संबंधित विषयों की मौजूदा अंतर्दृष्टि हमें पाठ्यचर्या संबंधी तौर-तरीके को बदलने व समृद्ध करने के लिए कारगर सुझावों का सैद्धांतिक आधार दे सकेगी।

अँग्रेजी केवल अपने बूते पर कायम नहीं रह सकती। इसे अपना स्थान पाना है।

• अन्य भारतीय भाषाओं के साथ

1. **क्षेत्रीय भाषा माध्यम के स्कूलों में**—बच्चों की अन्य भाषाएँ अँग्रेजी शिक्षा को कैसे मजबूत कर सकती हैं?

2. **अँग्रेजी माध्यम के स्कूलों में**—अँग्रेजी के वर्तमान वर्चस्व को घटाकर अन्य भारतीय भाषाओं का महत्त्व कैसे बढ़ाया जा सकता है?

दूसरे विषयों के साथ संबंध में

प्राथमिक शिक्षा में पूरी पाठ्यचर्या में भाषा का परिप्रेक्ष्य विशेष महत्त्व रखता है। विभिन्न अर्थपूर्ण संदर्भों के जरिये ही भाषा सबसे अच्छे तरीके से सीखी जा सकती है, इसीलिए हर प्रकार का शिक्षण एक अर्थ में भाषा शिक्षण ही है। यह परिप्रेक्ष्य माध्यमिक शिक्षा के अमूर्त विचारों के संदर्भ में भाषा की केंद्रीयता को रेखांकित करता है। जहाँ शुरुआती स्तर पर संदर्भगत अर्थ भाषा-प्रयोग को बढ़ावा देते हैं वहीं बाद के स्तरों पर सिर्फ भाषा के जरिये ही अर्थ को पाया जा सकता है।

अँग्रेजी शिक्षण का उद्देश्य ऐसे बहुभाषियों को तैयार करना है जो हमारी सभी भाषाओं को समृद्ध कर सकें : यही स्वीकृत राष्ट्रीय नजरिया रहा है। यह बहुभाषी परिप्रेक्ष्य भाषा और संस्कृति के सरोकारों को और अज्ञात से ज्ञात की ओर जाने के शिक्षण सिद्धांत को भी संबोधित करता है।

कक्षा के बाहर और भीतर भाषा अर्जन

दूसरी भाषा का शिक्षण पाठ्यचर्या के किसी अन्य विषय के मुकाबले सार्वभौमिक सफलता की सबसे बड़ी कसौटी पर खरा उतरना चाहिए; यानी कम-से-कम दैनिक उद्देश्यों के लिए भाषा का सहज और उपयुक्त प्रयोग। इस उपलब्धि को अपनी भाषाओं में हर बच्चा स्कूल जाने से पहले पा लेता है (चॉम्स्की 1975)। यही वह 'निपुणता का न्यूनतम स्तर' है (जिसे अत्यंत जटिल मानसिक व्याकरण की आवश्यकता है, जिसके कारण 'वास्तविक समय' में भाषा का बोध और प्रयोग हो

पाता है) जिसकी सहायता से कोई आम आदमी महज परीक्षा पास करने या व्याकरण जानने के बजाए 'अँग्रेजी बोल सकने' की अपेक्षा रखता है।⁷

- अपने परिवेश की भाषा में बोलचाल की जो बुनियादी निपुणता कक्षा के बाहर भी बच्चा सहज रूप से हासिल कर लेता है, इस व्यापक उपलब्धि को क्या अँग्रेजी की कक्षाएँ भी अपना सकती हैं? अगर हाँ, तो कैसे?
- सीमित क्षेत्रों (जैसे—यात्रा एवं पर्यटन उद्योग) के लिए आवश्यक भाषा-कुशलताएँ इसी बुनियादी निपुणता पर टिकी होती हैं।

एक आम संज्ञानात्मक अकादमिक भाषायी दक्षता

आदर्श रूप से या सामान्यतया शिक्षा में भाषा ऐसी स्वाभाविक रूप से प्राप्त की गई भाषा-योग्यता से बनती है जो साक्षरता में विकास के जरिये इसे अमूर्त विचारों के उपकरण या अकादमिक ज्ञान के ग्रहण के लिए समृद्ध करती है। अब हम एक 'संज्ञानात्मक अकादमिक भाषायी दक्षता' की बात कर सकेंगे (देखें कमिंस 1979) जिसमें भाषा और सोचने का कौशल बच्चे के स्वाभाविक भाषा-ज्ञान के आधार पर निर्मित होता है। यही भाषा-शिक्षा और भाषा के जरिये शिक्षा का लक्ष्य रहा है। (अक्सर यह चर्चा मातृभाषा में भाषा-शिक्षा के संदर्भ में होती है।)

- इसके अलावा भाषाओं की ऐसी संज्ञानात्मक और अकादमिक कुशलताएँ सभी भाषाओं में संचारित हो सकती हैं, दूसरी भाषा में भी।

यह संचरणीयता ही उन आधारों में एक रही है जिसके कारण अँग्रेजी को अपेक्षाकृत देर से लागू

करने की सिफारिश की जाती है। शिक्षा में भाषिक निपुणता जो बच्चे की अपनी भाषा में विकसित होती है, बाद में एक नयी भाषा में स्वाभाविक रूप से चली जाएगी। इस सिफारिश के प्रति असंतोष दो कारकों के कारण है—

- (क) पहला, भाषाओं में अकादमिक भाषिक दक्षता का असंतोषजनक उपलब्धि स्तर, जैसे पढ़ने या लिखने में, के कारण दूसरी भाषा में अकादमिक बुनियाद नहीं बन पाती है। आँकड़े बताते हैं (नाग-अरुलमणि 2005) कि छोटे नगर के 40% बच्चे, जनजातीय इलाकों के 80% बच्चे और शहरी स्कूलों के 18% बच्चे प्राथमिक स्तर पर अपनी भाषा में नहीं पढ़ पाते हैं। ये कमियाँ बाद के स्तरों पर बढ़ती जाती हैं और सामान्य अकादमिक असफलता में बदल जाती हैं।
- (ख) उच्च स्तरीय कौशल (जैसे— आनुमानिक समझ के साथ पढ़ना तथा अवधारणात्मक स्पष्टता के साथ लिखना) की बुनियाद के रूप में अँग्रेजी का सहज कामकाजी ज्ञान नहीं दे पाना।

प्रत्येक बच्चे के लिए तय की गई आठ वर्षों की शिक्षा गारंटी में लगभग चार वर्षों में ही अँग्रेजी भाषा संबंधी बुनियादी निपुणता बना सकना संभव होना चाहिए। इस निपुणता में पढ़ने और लिखने का बुनियादी साक्षरता कौशल भी शामिल हो। लेकिन इसके लिए हमारे स्कूलों को सभी भाषाओं के शिक्षण में और सफलता हासिल करनी होगी क्योंकि साक्षरता के कौशल संचरणीय होते हैं। इसके विकल्प

⁷सिर्फ शब्दों की संख्या के मामले में, एचिसन 1998 अनुमान लगाते हैं कि एक घंटे की बातचीत में 5000 शब्दों की जरूरत होती है, और रेडियो वार्ता के लिए 9000 शब्दों की जरूरत होती है।

के रूप में यदि अँग्रेजी को काफ़ी शुरुआती स्तर से ही माध्यम बनाना है तो इसके शिक्षण से दूसरी भाषाओं की भी साक्षरता में सफलता को सुनिश्चित करना होगा जैसा कि वेस्ट (1941) ने दर्ज किया था।

पाठ्यचर्या का स्वरूप—संसाधन व प्रक्रियाएँ सामग्री-समृद्ध परिवेश

भाषा सीखने के लिए सामग्री के साथ समृद्ध संप्रेषणात्मक परिवेश की आवश्यकता होती है। भाषाएँ अव्यक्त रूप से सीखी जाती हैं। सुनकर या पढ़कर पाए गए अर्थ से, सूचनाओं को समझने और संप्रेषित करने के जरिये। हम एक बोधगम्य सामग्री-समृद्ध पाठ्यचर्या का सुझाव देते हैं जिससे भाषा के सहज विकास की बुनियाद बन सके ताकि बोली और लिखी गई भाषा को समझना भाषा उत्पादन (व्याख्यान व लेखन) की पूर्वगामी भूमिका में हो। हम यह भी सुझाएँगे कि साक्षरता कैसे इस तरह की पाठ्यचर्या में अर्थपूर्ण ढंग से घुलमिल सकती है। हम पहले बता चुके हैं कि अँग्रेजी और अन्य स्कूली भाषाओं की साक्षरता में क्या अंतर्संबंध है इसीलिए इस खंड में बहुभाषिकता और पूरी पाठ्यचर्या में भाषा के दोहरे परिप्रेक्ष्यों का प्रकरण बार-बार आएगा।

कई शोधकर्ताओं (प्रभु 1987, क्रशेन 1985, एल्ली और मंगुभाई 1983) ने जोर देकर कहा है कि भाषा तब सीखी जाती है जब ध्यान उसके रूप पर नहीं बल्कि संदेशों के अर्थ पर दिया जाता है।

इस साझे विचार पर बँगलोर प्रोजेक्ट या कम्युनिकेशनल टीचिंग प्रोजेक्ट (प्रभु 1987), द कम्युनिकेटिव अप्रोच (विडोसन 1978), द नेचुरल अप्रोच (क्रशेन तथा टेरेल 1983) और पूर्ण भाषा आंदोलन जैसी नई खोजें हुई हैं। विशेष रूप से यदि साक्षरता ग्रहण के क्षेत्र को लें तो कई शोधकर्ताओं ने कौशल निर्देशों और भाषा सीखने संबंधी सबल अर्थपूर्ण परिवेश के संतुलन पर जोर दिया है (एडम्स 1990, स्नो, बर्नस एंड ग्रिफिन 1998; स्टेनोविक 2000)। साक्षरता विकास के लिए कौशल और अर्थ दोनों पर जोर दिए जाने की आवश्यकता है।

अर्थपूर्ण भाषा के अनुभवों की भूमिका या मस्तिष्क के कार्य करने के लिए 'सामग्री' की भूमिका को सीखने तथा भाषा सीखने के तमाम संज्ञानात्मक सिद्धांतों ने स्वीकार किया है (सीखने को आदत बनाना—बताने वाले व्यवहारवादी सिद्धांतों के समान ही)। 'भाषाओं का बोझ' पूरी शिक्षा के बोझ के समान ही एक तरह से नहीं समझ सकने का बोझ है। यह तब होता है जब भाषा को महज अपने लिए एक खास रूप या नियमों के तहत पढ़ाया जाता है, सुसंगत पाठों के अर्थ के वाहक के रूप में नहीं, यह महज पास करने के लिए अतिरिक्त विषय मात्र रह जाता है।⁸

भारत में अँग्रेजी-शिक्षा की विविधता और व्यापकता को देखते हुए प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार सीखने वाला अपनी उम्र के मुताबिक और भाषा के ज्ञान या भाषा कौशल की तैयारियों के मुताबिक

⁸ जब भाषा को भाषा के रूप में नहीं पढ़ाया जाता तो वह मात्र अनुमान के जरिये सीखी जाती है। इसका पता अँग्रेजी माध्यम के स्कूलों की अपेक्षाकृत अधिक सफलता से चलता है। जहाँ अतिरिक्त अँग्रेजी की सामग्री (अँग्रेजी के सामाजिक अनुभवों के अलावा) अन्य विषयों की पढ़ाई से मिलती है। अक्सर इसका परिणाम 'इंडियनिज़्म' के अर्जन के रूप में होता है जिसे वस्तुतः अँग्रेजी कक्षाओं में हतोत्साहित किया जाता है। देखें शेल्टर्ड लैंग्वेज टीचिंग' कार्यक्रम (विषयों वाली कक्षाएँ दूसरी भाषा के विद्यार्थियों के लिए बोधगम्य बनाई जाती हैं—देखें क्रशेन 1987: 71)। बोधगम्य सामग्री और पाठ्यचर्या के लिए समान भाषा के नजरिए से भाषा-सीखने वालों और भाषा नहीं समझ पाने वालों की खाई को पाटा जा सकता है।

अर्थपूर्ण भाषा अर्जन करे। ऐसी सामग्री कम से कम कक्षाओं में तो मिलनी ही चाहिए परंतु सीखने वालों के अपने प्रयत्नों के द्वारा अन्य रूपों में भी उपलब्ध होनी चाहिए। सीखना कक्षा या शिक्षक तक ही सीमित नहीं होना चाहिए। सुविधावर्चित शिक्षार्थियों के भाषा-परिवेश को विशेष तरीकों से समृद्ध करने की जरूरत है। इस लिहाज से कई नयी सफल खोजें और नवाचार इस देश में विद्यमान हैं जिन्हें उनकी तात्कालिक स्थानीय जरूरतों के परे ले जाकर व्यापक बनाने के लिए छानबीन और प्रोत्साहन की जरूरत है, जैसे अंतः क्रियात्मक रेडियो निर्देश, लक्ष्य आधारित संप्रेषण रवैया, पूर्ण भाषा आख्यान कार्यक्रम आदि। हम इन सफलताओं का वर्णन करने का प्रयास करेंगे।

शुरुआती स्तर पर अँग्रेजी

भाषा से परिचय— एक पूर्व-साक्षरता पाठ्यचर्या अँग्रेजी चाहे जिस कक्षा से शुरू हो (I - III, या IV या V - VI) शुरुआती लक्ष्य (अँग्रेजी सीखने के पहले या दो सालों में) यह है कि—

सार्थक स्थितियों में अँग्रेजी के साथ पहचान बनाई जाए (मुख्यतः बोलचाल या लिखित और बोली हुई सामग्री द्वारा) ताकि बच्चे को भाषा का कामचलाऊ ज्ञान हो सके।

“अब तक भाषा सीखने के तमाम सफल अनुभवों की एक समान विशेषता यह रही है कि शिक्षार्थी को एक या अन्य तरीके से सीखी जाने वाली भाषा से परिचित कराया जाता है” (रदरफोर्ड 1987 : 18)।

- यहाँ ‘पर्याप्त आँकड़ों’ से आशय है कि साल भर एक पाठ्यपुस्तक से चिपके रहना पर्याप्त नहीं है। इसी सीमित सामग्री पर कुशल अधिकार हासिल करने की बजाए विविध

और सार्थक भाषा-सामग्रियों से निरंतर परिचय कराते रहने पर जोर दिया जाना चाहिए।

- इसका संबंध मूल्यांकन-विधि से भी है, जिसकी चर्चा आगे की जाएगी।

आजकल शीघ्र-साक्षर बनाने और लगाए गए पाठों के उत्तर कंठस्थ कराने पर जोर दिया जाता है। हमारा बल **साक्षरता-पूर्व पाठ्यचर्या** की जरूरत पर है।

हम ‘व्यापक सामग्री’ मुहैया कराने के सुझावों से शुरू करेंगे। इस सामग्री में पाठ्यपुस्तकें, अन्य मुद्रित सामग्री जैसे बड़ी किताबें, कक्षा पुस्तकालय, एक से अधिक भाषाओं में समांतर सामग्री और मीडिया सामग्री (सीखने वालों के लिए पत्रिकाएँ, अखबारों के स्तंभ, रेडियो/ऑडियो केसेट्स इत्यादि) तथा प्रामाणिक’ और उपलब्ध सामग्री का इस्तेमाल शामिल है। शोध के अनुसार दूसरी भाषा सीखने की स्वाभाविक स्थितियों में किसी सीखने वाले द्वारा भाषा का उपयोग शुरू करने के प्रयास के पहले तीन महीनों की स्थिति ‘मौन अवधि’ होती है। इस अवधि में सीखने वालों को जो भी सामग्री उपलब्ध होती है, वह उसके शुरुआती उपयोग (चाहे वह कुछ शब्दों, वाक्यों के टुकड़ों और फार्मूलाकृत भाषा तक ही सीमित हो) के प्रयासों का आधार होती है। इसीलिए कक्षा में भाषा की समझ और उसके अनुभवों की कीमत पर भाषा के शीघ्र उत्पादन पर बल नहीं दिया जाना चाहिए। भाषा की जाँच मातृभाषा, हाव-भाव या एक शब्द के उत्तरों से की जा सकती है।

- कक्षा में शुरुआती उपयोग का किंचित् परिवर्तित तरीका बोधगम्य सामग्री के ‘छद्म

उपयोग' का हो सकता है, कविताओं या तुकों को सीखकर, भाषा का सामान्य तौर पर प्रयोग और कक्षा व्यवस्था के फार्मूले को सीखकर अभिवादन या अनुरोधों को सीखने के जरिये। छद्म उपयोग की जरूरत संभवतः मौजूदा रटंत विधि को प्रेरित करती है। इसे पहचानकर और पाठ्यचर्या में इसे उचित स्थान देकर बाद में वास्तविक उपयोगी स्थान की ओर बढ़ा जा सकता है।⁹

- ड्रामा और नाटक का प्रदर्शन प्रामाणिक और बोधगम्य संदर्भों में छद्म-उपयोग का परम्परागत तरीका रहा है। हावभाव पूर्ण तुकबंदी, छोटे नाटक और झलकी, वास्तविक कक्षा गतिविधि के रूप में थियेटर से शुरुआत करना, भाषा से बच्चे के संबंध और प्रस्तुतीकरण को बढ़ावा दे सकता है। बाद के स्तरों पर यह (व्याकरण के साथ-साथ) अलंकार-शास्त्र के अध्ययन में विकसित हो सकता है।

शिक्षक-सामग्री को संपूरक व अनुपूरक बनाना
शिक्षक की स्वयं की भाषायी निपुणता की सीमित क्षमता बोधगम्य सामग्री के रूप में सत्त कक्षा प्रवचन को सीमित करती है। (कक्षा 1 के अँग्रेजी शिक्षकों की तैयारी की निराशापूर्ण तस्वीर के लिए देखें

कृष्णन और पंडित, 2003) फिर भी, शिक्षक की योग्यताओं को सामग्री के जरिये विकसित करने और पूरक बनाने के लिए कई रास्ते हैं।

(क) अंतःक्रियात्मक रेडियो निर्देश (सी.एल.आर., पुणे)¹⁰ जैसी परियोजनाएँ सुझाती हैं कि स्थानीय रेडियो बोधगम्य और दिलचस्प संदर्भों में सरल बोलचाल की भाषा मुहैया करा सकता है जो कि बच्चे की भाषा ग्रहण करने की क्षमता और शिक्षक की भाषायी निपुणता बढ़ाता है चाहे वह ग्रामीण संदर्भों में 'जहाँ अँग्रेजी विदेशी भाषा के तौर पर' कक्षा पाँच तक की, देरी से ही क्यों न शुरु की गई हो। भाषा का निरंतर और सत्त अनुभव तथा बोधगम्यता की नियमित प्रतिपुष्टि की आवश्यकता सुनिश्चित की जानी चाहिए।

(ख) संपूर्ण भाषा दृष्टिकोण (जांगिड़, 2005)¹¹ के तहत कहानी पढ़ने को कक्षा-प्रणाली की तरह विकसित किया जाना चाहिए (बजाए कहानी को पाठ की तरह पढ़ने के)। कहानियों को जोर से पढ़ना, दोहराकर पढ़ना, सामूहिक रूप से पढ़ना, कहानी फिर से बताने और फिर से लिखने की गतिविधियाँ शिक्षकों की मौजूदा भाषा-निपुणता और कौशलों को समृद्ध

⁹ छद्म-उपयोग से हमारा तात्पर्य उस भाषा व्यवहार से है जो असल में होने वाली प्रक्रिया की नकल करती है। लेकिन वह सीखने वाले को जो पढ़ाया गया है उसकी सीमाओं से पार जाने की अनुमति नहीं देती है।

¹⁰ सेंटर फॉर रिसोर्सिज (सी.एल.आर.), पुणे ने तीन वर्षीय संवादात्मक रेडियो कार्यक्रम 'हम अँग्रेजी सीखें' विकसित किया है। इसे ग्रामीण व शहर के भाषायी क्षेत्र के प्राथमिक स्कूलों में बोलचाल की अँग्रेजी सिखाने हेतु विकसित किया गया है। 15 मिनट का यह कार्यक्रम 250 भागों में बँटा हुआ है जो तीन अकादमिक वर्षों में संपन्न होता है। इस दौरान सीखने वालों से अपेक्षा की जाती है कि वे भागीदारी करें। सीखने वालों के सुनने और बोलने के हुनर पर इसका जो प्रभाव है वह चौकाने वाला है। इस कार्यक्रम का मराठी-अँग्रेजी संस्करण मुंबई और पुणे जिले में तथा हिन्दी-अँग्रेजी संस्करण दिल्ली, झारखंड और उत्तराखंड में ऑल इंडिया रेडियो द्वारा प्रसारित किया जा चुका है। इस कार्यक्रम से अँग्रेजी में रुचि रखने वाले युवा व बुजुर्ग श्रोता तथा लाखों की संख्या में विद्यार्थी लाभान्वित हुए हैं।

¹¹ जांगिड़ (2005) ने लगातार एक साल तक कथा वाचन कार्यक्रम के दौरान पढ़ने, बोलने और लिखने में हासिल उपलब्धि का ब्योरा दिया है। इसमें पढ़ने की प्रविधि तथा इससे जुड़ी शिक्षक द्वारा की जाने वाली गतिविधि पर विस्तृत बातचीत है। साथ ही इसमें हरेक के लिए शिक्षण के यथेष्ट तर्क दिए गए हैं। इस अध्ययन में कक्षा 1 के लिए भाषा के जारी या रचनात्मक मूल्यांकन का भी अभिलेखन किया गया है।

व विकसित कर सकती हैं। नियमित रूप से कहानियाँ पढ़ने से बच्चों में, भाषा-अर्जन की प्रक्रिया को बढ़ावा मिलेगा और बच्चों के साथ-साथ शिक्षकों में भी पढ़ने की आदत विकसित होगी। खोजे जाने वाले महत्त्वपूर्ण तरीके हैं—

1. बड़ी किताबों का सम्मिलित पाठ—बड़े आकार की दिलचस्प पुस्तकें जिनमें पाठ के साथ सुंदर चित्र भी हों, (स्पार्क इंडिया तथा प्रोमिस फाउंडेशन, बैंगलुरु की किताबों की तरह) समूह-पाठ के उपयोग में लाई जाती हैं जब शिक्षक पढ़ता है तो बच्चे पहले पढ़ी गई भाषा और चित्रों के द्वारा कहानी से परिचित होते हैं और धीरे-धीरे मुद्रित कोड से बच्चे का परिचय होता जाता है। (मध्यवर्गीय व उच्चवर्गीय परिवारों में बच्चों को कहानियाँ सुनाने का चलन जो कि एक ऐसी साक्षरता गतिविधि है जो साक्षरता के विकास को बढ़ावा देती है, सुविधावंचित परिस्थितियों में दोहराई जा सकती है।)
2. रीडिंग कार्डों का उपयोग (जैसा कि सी. आई.ई.एफ.एल. द्वारा बनाए गए अँग्रेजी 400 तथा अँग्रेजी 100 कार्ड्स) और कक्षा-पुस्तकालयों का प्रावधान। रीडिंग कार्ड के

लघु स्तरीकृत अनुच्छेद (जो चार वाक्यों की कहानी से शुरु होते हैं)। प्रत्येक सीखने वाले को शिक्षक द्वारा शुरु कराए जाने के बाद स्वयं अपनी कठिनाई का स्तर तय करने और मौन पाठ (जो पढ़ने की आदत के विकास का सूचक है) की अपनी-गति को तय करने की छूट देते हैं।

3. 'बोलती किताबें' (केसेट्स + किताबें) शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों के उच्चारण और पढ़ाई का आदर्श तय करती हैं (सी.आई.ई.एफ.एल. के पास इस संबंध में कुछ अनुभव हैं)। यह एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ अभी बाजार नया होने के कारण निजी या व्यावसायिक प्रयास नहीं हो पा रहे हैं। अतः यहाँ सरकारी सहायता की जरूरत है। प्रभु (1987) ने एक 'कार्य-आधारित' प्रविधि का वर्णन किया है जो कक्षा में अर्थ समझाने के लिए बातचीत' और अर्थ 'केंद्रित गतिविधि' की ओर ले जाती है।¹² इस भाषा-शिक्षण के लिए 'पाठ' शिक्षक का व्याख्यान होता है— शिक्षक कक्षा के लिए लगभग उसी तरह बोलता है जैसे कोई वयस्क किसी बच्चे से बात कर रहा हो (पूर्ववत् पृ. 57)। इसके लिए जहाँ शिक्षक में बुनियादी भाषायी

¹²बैंगलोर मद्रास प्रोजेक्ट' या कम्युनिकेशनल टीचिंग प्रोजेक्ट काफ़ी महत्त्वपूर्ण पहल थी। इसमें सैद्धांतिक परिशुद्धता और अवधारणात्मक स्पष्टता तो थी ही साथ ही स्थानीय परिस्थितियों के लिए फायदेमंद कक्षा प्रणाली विकसित करने का समर्पण भी था। यह प्रयोग कर्नाटक और तमिलनाडु के सात क्षेत्रीय (भाषा) माध्यम स्कूलों की आठ कक्षाओं में (उनमें तीन निगम या सरकारी स्कूल शामिल थे) पाँच वर्षों तक चला। इसका उद्देश्य सीखने वालों को एक उपयोगी भाषा देना था जो व्याकरण की दृष्टि से भी सही हो। कक्षा में अभ्यास से जो प्रणाली विकसित हुई, उससे शिक्षण विशेषज्ञों के हाथ से निकल कर कक्षा शिक्षकों के हाथ में चला गया। टीम का प्रयास था कि कक्षा में ऐसी स्थिति पैदा की जाए जिसमें सीखने वाले में संवाद के लिए प्रयत्न करने का भाव उभरे, यानी समझना, किसी जगह पर पहुँचना, और अर्थ संप्रेषित करना।' कार्य के स्वरूप ने जो कि तर्किक-अंतराल गतिविधि पर आधारित था शिक्षक और सीखने वाले के सत्याभास के बोध को संतुष्ट किया। यह एक गंभीर अधिगम गतिविधि के रूप में प्रस्तुत किया गया (भाषा खेलों और भूमिका-निर्वाह के विपरीत) ; और अर्थ-केंद्रित कक्षा गतिविधि तथा अर्थ के स्पष्ट लेन-देन को एक स्पष्ट दिशानिर्देश में स्वीकृति दी गई। इन कार्यों की पूरी सूची प्रभु (1987) में दी गई है।

निपुणता आवश्यक है, वहीं यह ध्यान रहे कि यहाँ व्याकरण या साहित्य की विशेषज्ञता की जरूरत नहीं। (शिक्षक कैसी अँग्रेजी बोल सकते हैं इसके लिए देखें खंड 4.2 तथा प्रभु (पूर्ववत् पृ. 98)

ऐसे नजरियों और तरीकों को अलग-थलग नहीं रहना चाहिए बल्कि एक व्यापक संज्ञानात्मक दर्शन (जिसमें वॉयगोत्सकी, चॉम्स्की तथा पियाजे के सिद्धांतों का समावेश हो) के तहत एक दूसरे के सहयोगी भाव में होना चाहिए। उदाहरण के लिए, भाषा के विकास के लिए बोधगम्य उत्पादन के साथ-साथ बोधगम्य सामग्री की आवश्यकता हो सकती है। सीखने वाले का व्याकरण ज्ञान जो मूलतः अव्यक्त बताया जाता है, अवसर आने पर या जरूरत पड़ने पर व्यक्त भी हो सकता है। पढ़ने के निर्देशों में ध्वनिक या संशोधित ध्वनिक नजरिये के साथ-साथ पूर्ण-शब्द दृष्टिकोण भी हो सकता है। जैसा हम आगे बताएँगे। पाठ्यक्रम के उद्देश्यों को कक्षा में लागू करने के लिए किन्हीं विशेष गतिविधियों (जैसे पढ़ने के लिए बच्चे की तैयारी की अवधारणा को ध्यान में रखा जाना चाहिए)। कक्षा कोई प्रयोगशाला नहीं है, अतः उसे सबको मिलाकर चलने वाला स्थान होना चाहिए जहाँ प्रत्येक व्यक्ति की सीखने की शैली का ध्यान रखा जाता हो।

उपलब्ध संज्ञानात्मक व भाषायी संसाधनों का उपयोग

कार्य-आधारित प्रविधि से एक महत्त्वपूर्ण अंतर्दृष्टि यह उभरती है कि हम कक्षा में –

‘न सिर्फ लक्ष्य भाषा के संसाधनों को ही बल्कि सीखने वालों के पास उपलब्ध तमाम अन्य संसाधनों (इन पर हमें बल देना चाहिए) जैसे अटकलबाजी, हाव-भाव, प्रथाओं का ज्ञान, संख्याओं का ज्ञान और मातृभाषा आदि को शामिल करने के लिए संवाद की आवश्यकता पैदा कर सकते हैं और करनी चाहिए’ (प्रभु 1987 : 29)।

कक्षा 1 या कक्षा 4 के शिक्षार्थी भाषा में कच्चे हों पर संज्ञानात्मक रूप से वे शिक्षार्थी हैं, शिशु नहीं। उनकी (और उनके शिक्षकों की) मौजूदा संज्ञानात्मक व भाषायी योग्यताओं का उपयोग न कर पाने से हम एक संसाधन तो खो ही बैठते हैं साथ ही उस बच्चे को भी विमुख कर देते हैं जो नयी भाषा और अपने मानसिक संसार में कोई संबंध नहीं खोज पाता। भाषाओं के बीच और अन्य विषयों और भाषाओं के बीच के व्यवधान हटाने की हमारी सिफारिश के पीछे यही नजरिया है।¹³

साक्षरता की शुरुआत

डिकोडिंग—नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे मुद्रण के साथ-साथ बोलचाल साक्षरता का एक महत्त्वपूर्ण रास्ता है। एक पूर्णतावादी या ऊपर से नीचे तक का दृष्टिकोण (कहानी पढ़ने के माध्यम से) जो पूर्ण शब्दों या भाषा के टुकड़ों की दृश्य पहचान विकसित करता है, के साथ-साथ मुद्रण पहचानना और विकोडीकरण तथा वर्ण-ध्वनि मानचित्रण (ये कुशलताएँ आजकल पढ़ने के साथ जुड़ी हैं) के नीचे से ऊपर तक के रवैये को

¹³प्रभु हमें बताते हैं (संदर्भ पहले वाला है)--- सीखने वालों के लिए कार्य आधारित शिक्षण में कोई बड़ी समस्या उभर कर नहीं आई है। एक छोटा सा लाभ भारतीय भाषाओं और स्कूली भाषा में अँग्रेजी के कुछ शब्दों की मौजूदगी से हुआ है। उनमें से कुछ तो सीखने वालों के पहले पाठों में भी शामिल हैं।’ (इस परियोजना के समय तमिलनाडु में अँग्रेजी की शुरुआत कक्षा तीन और कर्नाटक में कक्षा पाँच से होती थी)।

जोड़ना होगा। तुक वाले वर्ण-समूहों (गोस्वामी 1999) के जरिये एक परिवर्तित ध्वनिक रवैया अपनाने से अँग्रेज़ी स्पेलिंग की मध्यस्थता को कम किया जा सकता है। (जैसे कि कैट, रैट, मैट, कार, फार, स्टार, बॉल, हॉल, कॉल में 'ए' वर्ण की ध्वनि की निरंतरता अथवा it/ ite, at/ate, ot/ote आदि वर्णों में स्वर—ध्वनियों के उच्चारण का अनुमान)। शाँ का प्रसिद्ध उदाहरण (Ghoti = fish) वर्ण-समूहों के शब्द में आक्षरिक स्थान के संदर्भहीन प्रयोग के कारण बना है (अँग्रेज़ी में शुरुआत में gh का उच्चारण कभी/फ/नहीं होता और जप की वर्तनी का उच्चारण/श/हमेशा जपवद के क्रम में होता है)। एडम्स (1990) ने इन मामलों का अच्छा परिचय दिया है। पूर्व-साक्षरता मौखिक गतिविधियाँ बच्चे में बोले और लिखे गए भाषा कोडों जैसे तुक, नाम या शब्दों में पहली ध्वनि की समानता आदि से संबंध बनाने की क्षमता को विकसित कर सकती है।¹⁴

एक मुद्रण-समृद्ध परिवेश

मुद्रण-समृद्ध परिवेश में कई साक्षरता पूर्व गतिविधियाँ की जा सकती हैं, कक्षा में संकेत चिह्न, चार्ट, कार्य व्यवस्था की सूचनाएँ लगी होनी चाहिए जैसा कि एक मध्यवर्गीय परिवार भी करता है (जिससे वहाँ के बच्चों को पहली पीढ़ी में सीखने आए बच्चों से तरजीह मिल जाती है)।

प्रतिमात्मक रूप से पहचानने के लिए वैज्ञानिक चिह्नों के रूप में जहाँ उपलब्ध हो, वहाँ शिक्षक

परिवेशीय मुद्रणों' (नोटिस, साइनबोर्ड, लेबल आदि) की ओर ध्यान दिला सकता है—हर कक्षा या हर विद्यार्थी अपने लिए उदाहरण खुद चुन सकता है। प्रभु (1987) कक्षा 3 से 5 में आरंभिक साक्षरता-वर्धक संप्रेषणात्मक कार्यों में वर्णमाला के वर्णों से खाली चित्रों के ऊपर लेबल लगाने का काम सुझाते हैं। जांगिड़ (2005) दर्शाते हैं कि बच्चे (कक्षा 1 या 3) कहानियों के जरिये मुद्रण से परिचित होते हैं इससे बच्चों में पन्ने के स्थान क्रम विशेषतः केंद्र में शीर्षक, अनुच्छेद, नियमित क्षैतिज रेखाएँ आदि का बोध विकसित होता है।

पहले के अव्यवस्थित लेखन के मुकाबले श्रुतलेख भी आज संपूर्ण-भाषा-गतिविधि के रूप में देखा जाता है जिसमें बच्चे को पाठ के उदाहरणों को डिकोड कर अपनी स्मृति में रखने की आवश्यकता होती है जिन्हें वह लिखने के लिए पुनर्गठित करता है (डेविस और रिनवोलुक्री 1988)।

व्यापक सामग्री के पोषण और सुपुर्दगी के लिए व्यवस्था

हम कुछ गतिविधियों व सामग्री का विस्तार से वर्णन कर चुके हैं जो शुरुआती दिनों में भाषा विकास को बढ़ावा देती हैं क्योंकि उनके अभाव में अँग्रेज़ी को आरंभ से लागू करने का उद्देश्य असफल हो जाएगा। यह खंड बहुभाषिकता, शिक्षक की तैयारी व मूल्यांकन के साथ-साथ उन स्कूलों में एक बुनियादी सकारात्मक हस्तक्षेपों की बात करता है जहाँ न तो शिक्षक निपुण है और न ही अँग्रेज़ी-ग्रहण करने के लिए पर्याप्त समर्थित परिवेश। व्यापक

¹⁴सीखने वाले द्वारा प्रयुक्त अँग्रेज़ी शब्द बच्चों के घर, पड़ोस और मीडिया से आते हैं, पूरी कक्षा के लिए संसाधन बन जाते हैं। नाग अरुलमणि आदि (2003) बताते हैं कि अँग्रेज़ी से जूझते कक्षा तीन के बच्चों के लिए विभिन्न ध्वनि खेलों से परिचय बच्चों की पढ़ाई पढ़ने, वर्तनी और शब्द संग्रह के विकास को बढ़ावा दे सकता है।

सामग्री की बच्चों तक सुपुर्दगी के तंत्रों को पहचानने का लक्ष्य होना चाहिए चाहे वे कक्षा में हों या बाहर; उदाहरणार्थ, बच्चों के लिए स्कूल छूटने के बाद सामुदायिक संसाधन केंद्र के रूप में स्कूल कार्य कर सकता है।

‘उपचारात्मक शिक्षण’ पर दिए जाने वाले मौजूदा बल को ऐसे सहायक हस्तक्षेप तक ले जाना चाहिए जो एक बुनियादी सफलता हासिल कर सकें। जब अधिकांश बच्चों को ‘उपचारात्मक शिक्षण’ की जरूरत हो तो स्पष्ट है कि स्वयं तंत्र को इसकी जरूरत है। आजकल शिक्षकों और स्कूलों की आम शिकायत है कि बच्चों की घरेलू पृष्ठभूमि पर्याप्त सहायक नहीं है तो सुविधावांचित शिक्षार्थियों को आवश्यक समर्थन मुहैया कराने का दायित्व व्यवस्था का है।

बाद के स्तरों पर अँग्रेजी-उच्च स्तरीय कुशलताएँ

शब्द-संग्रह, पठन और साहित्य

शब्द-संग्रह, पठन और साहित्य संप्रेषण संबंधी योग्यता और दूसरी भाषा के ग्रहण और विकास के लिए अब शब्दकोशीय ज्ञान को केंद्रीय माना जाता है। यहाँ तक कि पहली भाषा में भी जहाँ भाषा का व्याकरण 10 वर्ष की उम्र तक बच्चा सीख जाता है, वहाँ शब्द-संग्रह करने का काम जीवनभर चलता रहता है।’ (स्मिट, 2000 : 4)

आगे के स्तरों पर शब्द-संग्रह और लेखन का आधार समझ और रुचि के साथ की गई व्यापक

पढ़ाई है। शब्द-भंडार के अर्जन को लेकर यह विवाद लगातार चलता है कि यह स्वाभाविक रूप से होता है या सिखाया जाता है। यह बहस इंगित करती है कि एक माध्यमिक स्तर के विद्यार्थी के अकादमिक उद्देश्यों के लिए जिस विस्तृत शब्द-संग्रह¹⁵ की आवश्यकता है।

उसे ‘सब कुछ या कुछ नहीं’ की शिक्षण विधि से नहीं बल्कि धीरे-धीरे क्रमबद्ध रूप से निर्मित करना होता है (देखें क्रेशन 1989, स्मिट 2000)। जब शुरुआती वर्षों में भाषा उचित रूप से पढ़ाई गई हो तो बाद के वर्षों में शिक्षार्थी कक्षा में थोड़ी मदद से ही ये उच्चस्तरीय कुशलताएँ स्वतंत्र रूप से स्वभावतः अर्जित कर लेता है। शोध यह भी बताते हैं कि जब भाषा शिक्षण में पारंपरिक तरीकों से हटकर, जहाँ शब्दों के अर्थ सिखाए जाते हैं (शब्दकोश का तरीका), एक समृद्ध तरीका अपनाया गया, जहाँ शब्द का दूसरे शब्दों और संदर्भों से संबंध बताया गया (विश्वकोश का तरीका), तो अधिक कारगर नतीजे सामने आए (फॉसेट और निकलसन, 1991, स्नो आदि, 1991)।

कक्षा-पुस्तकालयों में उपयोग में लाई गई या उपलब्ध सामग्री मुद्रित या मल्टीमीडिया रूपों में हो सकती है। बच्चों का परिचय इन सभी रूपों से होना चाहिए। वैसे तो सभी स्तरों पर, सामग्री को समानता (लिंग और सामाजिक) और सौहार्द्रता (मनुष्यों के बीच, मनुष्य और प्रकृति के बीच) के प्रति संवेदनशील होना चाहिए पर खासतौर से इस स्तर पर जहाँ बड़ी मात्रा में स्वतंत्र अध्ययन

¹⁵ एक 20 वर्षीय विश्वविद्यालयी विद्यार्थी को अँग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने के लिए कम से कम 20,000 ‘शब्द परिवारों’ (एक शब्द के अन्य रूप और उससे निकले रूपों के साथ) को जानना जरूरी है। यह मानकर चला जाता है कि किसी 17 वर्षीय लड़के को विश्वविद्यालयी शिक्षा के लिए तैयार होने के लिए 15000 से 17000 शब्द परिवारों से परिचित होना चाहिए यदि वह प्रति वर्ष 1000 नए शब्द सीखने की सामर्थ्य रखता हो।

अपेक्षित होता है (वर्ष भर में कम से कम 6 पाठ), उन समूहों में जहाँ शिक्षकों और विद्यार्थियों की योग्यता उपलब्ध हो, भाषा के प्रति लिंग बोधपरक सजगता पैदा की जा सकती है। यह पाठ्यचर्या-पर्यवेक्षण नजरिया भाषा-प्रयोग संबंधी खोज का आदर्श क्षेत्र है।

परंपरागत रूप से शुरुआती स्तर के बाद भाषा सीखने की सामग्री का स्रोत साहित्यिक गद्य; कथा-साहित्य और कविता होते हैं। जहाँ व्यापक क्षेत्र के अधिक, समसामायिक और प्रामाणिक पाठों को शामिल करने का चलन बढ़ा है (भाषा-पाठ्यचर्या को व्यावहारिक दिशा देने के लिए तथा साहित्य की व्यापक परिभाषा बना पाने के लिए भी), अभी भी पहुँच के अंदर तथा सांस्कृतिक रूप से उपयुक्त साहित्य अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका जारी रखे हुए है; ज्यादातर बच्चे अँग्रेजी कक्षा को कहानियाँ पढ़ने की जगह मानते हैं। कल्पनाशीलता के विकास के लिए भाषा का उपयोग बाद के भाषा अध्ययन का प्रमुख लक्ष्य रहा है। पाठ्यचर्या में अँग्रेजी के साहित्य के वैकल्पिक अध्ययन का अलग से प्रावधान किया जा सकता है—ब्रिटिश, अमरीकी और भारतीय, कॉमनवेल्थ और यूरोपीय आदि साहित्य के अनुवादों के रूप में। साथ ही इसके जहाँ आवश्यक हो वहाँ विशेष उद्देश्यों के लिए अँग्रेजी को भी अपनाया जा सकता है। (भाषा के फार्मूलाबद्ध प्रयोगों, जैसा कि पर्यटकों की पुस्तिका में होता है, के लिए भाषा के व्यवस्थित और सहज ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। अतएव हम अपने कार्यक्षेत्र में उस पर विचार नहीं कर रहे)।

ये नजरिये पूर्व स्नातक स्तर पर अँग्रेजी के अध्ययन की विशेषज्ञता के आधार बनेंगे।

भाषा और आलोचनात्मक चिंतन-संदर्भ कौशल, व्याकरण और साहित्यशास्त्र

बाद के स्तरों पर विद्यार्थियों को कुछ विश्वसनीय कार्यों के द्वारा लिखने से परिचित कराया जा सकता है। जैसे उनके इलाके के किसी ऐसे व्यक्ति के लिए पत्र लिखना जिसे लिपिक की जरूरत हो या दूसरे बच्चों से पत्र-व्यवहार (हम इस गतिविधि को बढ़ाने के लिए अंतर-स्कूलीय कार्यक्रम के बारे में सोच सकते हैं) या उन लोगों को साथ मिला सकते हैं जो स्वयं विद्यार्थियों से पत्र-व्यवहार करना चाहें। इसमें अध्ययन के जिन कौशलों पर बल होना चाहिए वे हैं—नोट लेना, नोट बनाना, उद्धरण कौशल, बोलने या लिखने संबंधी संप्रेषण कौशल। सभा में भाषण देना, साक्षात्कार व वाद-विवाद के बजाए निबंध या घिसे-पीटे विषयों पर लेखन के मशहूर भाषणों से परिचय कराते हुए उनके तर्कों की संरचना (भावनात्मक या तार्किक) का विश्लेषण किया जा सकता है।

बुनियादी भाषायी निपुणता हासिल करने के बाद व्याकरण से परिचय कराया जा सकता है अर्थात् व्याकरण अकादमिक भाषा पर विचार करने या स्वयं अपने में बौद्धिक रूप से दिलचस्प गतिविधि के रूप में आए। शब्दकोशीय प्रविष्टियों के अर्थपूर्ण उपयोग की योग्यता के लिए व्याकरण का थोड़ा ज्ञान तो किसी भी हालात में अत्यंत आवश्यक होता है क्योंकि सीखने वालों के लिए शब्दकोश में अब व्याकरण काफ़ी मात्रा में उपयोगी टिप्पणियों और उनकी कोडिंग के रूप में रहता है। व्याकरण

भाषा का प्राथमिक या व्यावहारिक ज्ञान पाने का रास्ता नहीं है।¹⁶ बल्कि भाषा क्षमता को बढ़ाने और पाठ की साहित्यिक' और तर्कात्मक संरचना की समझ के लिए व्याकरण आवश्यक है।

कुछ शिक्षकों का यह दुराग्रह रहा है कि व्याकरण भाषा की 'शुद्धता' (प्रवाह के विपरीत) के लिए अत्यावश्यक है। वे यह सोचते हैं कि विद्यार्थी भाषा का इतना अनुभव प्राप्त कर चुके हैं कि वे उसे सामान्य गलतियों को पहचानते हुए पर्याप्त व्यवस्था के साथ कर सकते हैं।

अँग्रेजी की कक्षा या स्कूल में बहुभाषिकता क्षेत्रीय भाषा के परिप्रेक्ष्य में

वर्तमान में अँग्रेजी कक्षा में मातृभाषा का प्रवेश गुप्त घुसपैठिए के रूप में होता है, उत्तर लिखाते समय शिक्षक पाठ के साथ-साथ अनुवाद और व्याख्या' करता चलता है और उसे बहस करके और समझ बनाने के क्रम में उपयोग में लाकर या अँग्रेजी से संबंधित करके सही जगह दी जा सकती है। प्रभु (1987) इसका एक उदाहरण देते हैं—बँगलोर प्रोजेक्ट में मातृभाषा के प्रयोग की सीमा कार्य की जरूरतों से सहज ही तय हो गई थी जहाँ सामग्री अँग्रेजी में थी और जवाब भी अँग्रेजी में ही आते थे। मातृभाषा ने ही आवश्यकता पड़ने पर अँग्रेजी भाषा को बोधगम्य बनाया। यदि अँग्रेजी में विविध प्रकार की सामग्री उपलब्ध हो और उसे समझने का सच्चा प्रयास हो तो मातृभाषा दखलंदाजी नहीं करती बल्कि सहायक होती है। क्लेशन (1985:94)

बताते हैं कि "साथ-साथ किया जाने वाला अनुवाद प्रभावी नहीं होता", कक्षा में दो भाषाओं का उपयोग इस प्रकार किया जा सकता है कि पहली भाषा का पृष्ठभूमि में उपयोग करते हुए लक्ष्य-भाषा की सामग्री को बोधगम्य बनाया जाए।

अँग्रेजी भाषा-शिक्षण के साधन तैयार करने में मातृभाषा के उपर्युक्त प्रयोगों की समझ बनाने में शिक्षकों की भागीदारी निर्मित करने की जरूरत है। भाषा-मिश्रण के उपर्युक्त स्तर क्या हो सकते हैं, इस विषय पर शिक्षकों की मानसिकता को संबोधित करने की जरूरत है। कुछ संभावनाएँ हैं -

(अ) प्राथमिक स्कूलों में भाषाओं के बीच तथा 'भाषाओं और विषयों' के बीच के व्यवधान हटाना—निम्न प्राथमिक स्तर पर या कम से कम कक्षा 1 से 3 तक जो गतिविधियाँ बच्चे को अपने आसपास के जगत के प्रति जागरूक करने के लिए होती हैं, वे अँग्रेजी मातृभाषाओं के साथ-साथ आ सकती हैं (दास 2005)। इस प्रकार की बहुभाषी गतिविधियों के विकास के लिए सामग्री तैयार करने और शिक्षकों के सहयोग से एक स्पष्ट प्रविधि के निर्देश तैयार करने की जरूरत है जिसमें एक से अधिक भाषाओं का स्वाभाविक प्रयोग हो सके। भाषायी शुद्धतावाद चाहे अँग्रेजी का हो या भारतीय भाषाओं का, उसमें

¹⁶ व्याकरण जैसे पद को कई तरीकों से समझने की जरूरत है। यहाँ हम पद व्याख्या के कौशल या रणनीति (ऐसे भाव समूहों की पहचान करें ताकि उनको वाक्य में ठीक जगह पर रखा जा सके, या वाक्य के विस्तार के लिए उनका इस्तेमाल करना) को खारिज नहीं कर रहे हैं, शुरुआती स्तर पर निवेशों को अधिक बोधगम्य बनाने के साधन के रूप में, विशेष रूप में अँग्रेजी वाले परिवेश में। कुछ व्याकरण (जैसे प्रीपोजीशन का उपयुक्त प्रयोग) की पहचान शब्द-संग्रह (इस पद के तहत शामिल है मुहावरेदार और निश्चित अभिव्यक्तियाँ, जैसे इन टाइम, ऑन टाइम) जैसे सटीक पद को सीखने के रूप में की जा सकती है।

- कोड-परिवर्तन या कोड-मिश्रण की उदारता होनी चाहिए।
- (ब) **एक से अधिक भाषाओं में समांतर पाठ लागू करना**—यह एक ही कहानी भी हो सकती है जैसी एन.बी.टी. ने अँग्रेज़ी के साथ-साथ भारतीय भाषाओं में भी कहानियाँ छपी हैं (देखें अमृतावल्ली और रामेश्वर राव, 2001)। प्रॉमिस फाउंडेशन ने चार भारतीय भाषाओं और अँग्रेज़ी में बड़ी पुस्तकें तैयार कराई हैं, सी.आई.ई.एफ.एल. की संपूर्ण भाषा दृष्टिकोण के तहत द्विभाषी किताबें हैं। ऐसे समांतर पाठ एक दूसरे के यथावत अनुवाद हों ऐसा जरूरी नहीं है पर वे समान अर्थ वाले हों और उनमें एक जैसी भाषिक गतिविधि जैसे — तुक, ध्वनि-खेल आदि शामिल हों ताकि बच्चे भाषा-ध्वनि संरचना के प्रति सचेत हों। **पढ़ना एक संचरणीय कुशलता है**— एक भाषा में पढ़ने से पढ़ने की कुशलता सामान्य रूप से बढ़ती है (वेस्ट 1914)। यह सिप्र न समान लिपि वाली भाषाओं में नहीं बल्कि अलग लिपियों वाली भाषाओं में भी कारगर होता है। (वेस्ट ने बँगाली और अँग्रेज़ी पर काम किया है : दो लिपियों की स्थितियों और पढ़ने की संचरणीयता के बारे में अब थोड़ी बहुत जानकारी है)।
- (स) विद्यार्थियों के साथ त्रुटिपूर्ण अँग्रेज़ी की अभिव्यक्ति के अर्थ की पुनर्रचना के लिए जानी-पहचानी भाषा का उपयोग (फोकस समूह की एक चर्चा में डॉ. चंपा टिकू की प्रस्तुति)।
- (द) जबकि ऊपर दिए गए सुझाव समांतर या साथ-साथ काम करने वाली भाषाओं के बारे में हैं, वहीं द्विभाषी पढ़ने-पढ़ाने वाले के लिए या मिश्रित कोड के द्विभाषी पाठों पर भी प्रयोगात्मक कार्य उपलब्ध हैं (देखें डोवेरा 2005, फेलिक्स 1998)। इनकी शैक्षणिक संभावनाओं को खोजा जा सकता है।
- (य) राज्य को विभिन्न स्तर के लिए **सीखने वालों के द्विभाषी शब्दकोशों** के प्रकाशन की पहल करनी चाहिए क्योंकि इसका बाजार नहीं होने के कारण स्तरीय व्यावसायिक पहल इस क्षेत्र में नहीं हुई। अँग्रेज़ी/फ्रांसीसी/स्पेनी/इतालवी/जापानी संदर्भों के ऐसे शब्दकोश उपलब्ध हैं जो द्विभाषिकता और द्विसाक्षरता को बढ़ावा देंगे और सामग्री को समझने तथा स्वतंत्रता से पढ़ने को बढ़ावा देंगे।
- (र) एक अन्य द्विभाषी मॉडल है जिसमें अपरिचित भाषा की सामग्री लेकर परिचित भाषा में उसका प्रयोग होता है जैसा कि कभी-कभी (अँग्रेज़ी माध्यम) विश्वविद्यालय **पढ़ना एक संचरणीय कुशलता है**—के विद्यार्थियों द्वारा अपनी भाषा में उत्तर देने के आग्रह में झलकता है। (कुछ विश्वविद्यालय इसे मान लेते हैं)। यह भी ध्यान देने योग्य है कि ब्रिटिश स्कूलों में फ्रांसीसी पाठ के अध्यापन में उत्तर अँग्रेज़ी में दिए होते हैं।
- यद्यपि ये सभी सुझाव तुरंत उपयोग में नहीं लाए जा सकते हैं, फिर भी इनसे पता चलता है कि विविध संदर्भों के लिए कई विकल्प उपलब्ध हैं। ये अँग्रेज़ी पाठ्यचर्या को हलका बनाने के प्रयास नहीं हैं बल्कि वस्तु-स्थिति

और जरूरतों को अँग्रेजी की सुपुर्दगी की व्यवस्थाओं के चुनाव के साथ जोड़ने का प्रयास है (पाठ्यपुस्तकों का खंड भी देखें)।

अँग्रेजी माध्यम का संदर्भ

किसी संभ्रांत शहरी बच्चे को अँग्रेजी के अलावा कोई दूसरी भाषा में कामकाज करना या सिखाना एक गंभीर चुनौती है। एक मौजूदा मॉडल है कुछ विषयों (जैसे समाज विज्ञान) को गैर अँग्रेजी भाषा में पढ़ाने का (चर्चा के लिए देखें, अमृतावल्ली, 2001)। अँग्रेजी की कक्षा में अब अँग्रेजी में भारतीय लेखन के पाठों (कथा साहित्य या गैर कथा साहित्य) के साथ-साथ भारतीय भाषाओं से अनुवादित पाठ मिल जाते हैं।

परंतु अँग्रेजी व अन्य भारतीय भाषाओं के बीच संवाद को इससे आगे ले जाने की जरूरत है। उदाहरण के लिए वैसे तरीके खोजने की जरूरत है जिससे मूल भाषा और अँग्रेजी अनुवाद के समांतर पाठ पढ़े जाएँ। मूलतः अँग्रेजी और अन्य भारतीय भाषाओं के शिक्षकों में इस पर सहमति होनी चाहिए कि अकादमिक भाषायी गतिविधि क्या है और इसे दैनिक जीवन में किस तरह शामिल किया जा सकता है। ऐसे पत्र-पत्रिकाएँ उपलब्ध हैं जो समांतर भाषायी संस्करण निकालते हैं (वस्तुतः चंदांमामा और अमर चित्रकथा का अँग्रेजी के साथ भारतीय भाषाओं में प्रकाशन का इतिहास रहा है)। टेलीविजन पर भी समांतर भाषा चैनल हैं। ऐसे पेशेवर लोगों की पर्याप्त संख्या उपलब्ध है जो एक से अधिक भाषाओं में काम करते हैं। इन संसाधनों को कक्षाओं में प्राथमिक स्तर और विशेष रूप से माध्यमिक स्तर पर प्रवेश मिलना चाहिए।

पाठ्यपुस्तकें

इन सबका निहितार्थ है कि कक्षा में उपयोग किए जाने वाले पाठों, जिसमें पाठ्यपुस्तकें भी शामिल हैं, पर शिक्षक और शिक्षार्थियों का अधिक से अधिक अधिकार हो जाए। सिर्फ एक निर्धारित पाठ से पाठ्यचर्या संबंधी स्वतंत्रता नहीं आ सकती। पहले की तरह उपलब्ध पाठों के समूह में से एक चुन लेने के तरीके को फिर अपनाया जा सकता है—उड़ीसा जैसे कुछ राज्यों में रीडिंग कार्ड के विचार के समान ही नयी तरह की पाठ्यपुस्तकें शुरू की गई हैं जिनमें एक ही पीरियड में खत्म किए जा सकने वाली छोटी इकाइयाँ होती हैं (सुनवानी 2005)। भाषा को एक गतिशील पाठ के रूप में देखा जाना चाहिए, यानी बार-बार एक ही पाठ को दोहराते रहने के बजाए रोज-रोज नयी घटनाओं की तुलनीय भाषा का परिचय कराया जाना चाहिए (अमृतावल्ली, 1999)। इसकी तुलना भारतीय शास्त्रीय संगीत में राग के सीखने की विधि से की जा सकती है। यह बच्चे को 'अपठित' बोधगम्य उदाहरणों की परीक्षा के लिए तैयार करेगा। शिक्षक और विद्यार्थियों को अपने स्तर के अनुरूप पूर्ण निर्धारित और अनिर्धारित पाठों के संतुलन को विकसित करना होगा।

शिक्षार्थी द्वारा चयनित पाठ

शिक्षार्थियों द्वारा चुने गए पाठों के उपयोग पर आंशिक शोध हुए हैं (कुमार दास 1993)। इन पाठों में आलेख, पुस्तकें और अनुच्छेद, चुटकुले या कार्टून जैसी छोटी चीजें आती हैं जिन्हें शिक्षार्थी अपनी कक्षा में औरों को सुनाने के लिए लाते हैं। उपर्युक्त सामग्री की खोज के लिए शिक्षार्थियों को

प्रोत्साहित करने से उनमें व्यापक रूप से पढ़ने की प्रेरणा बढ़ती जाती है। यह कक्षा को 'प्रामाणिक' सामग्री की तरफ भी ले जाता है जो अब तक व्यवस्था के द्वारा उपेक्षित संसाधन रहा है। ई.एल.टी. के साहित्य में ऐसी सामग्री के उपयोग पर व्यापक चर्चाएँ मिलती हैं। एक शिक्षक ने लिखा है कि डाकखाने या रेलवे-स्टेशन तक विद्यार्थियों को ले जाने से उन्हें अँग्रेजी के 'पाठों' के नमूने चुनने का अवसर मिला। वरिष्ठ शिक्षार्थियों के लिए रेडियो, प्रकाशित सामग्री या टेलीविजन समाचार या समाचार फीचरों का उपयोग किया जा सकता है (जैसा कि सी.आई.ई.एफ.एल. द्वारा किए गए शोध का सुझाव है)।

निर्धारित पाठों के साथ आने वाली 'कुंजियाँ या गाइडें' एक समस्या बन गई हैं। इस रिवाज की भर्त्सना करने के बजाए हमें यह सोचना चाहिए कि आखिर कुंजियाँ होती क्यों हैं? वे स्थानीय (शिक्षक/शिक्षार्थी) योग्यताओं और केंद्रीकृत व्यवस्था की अपेक्षाओं (परीक्षाएँ/निर्धारित पाठ) के बीच की खाई को भरती हैं। 'सरल' पाठ और 'सरलीकृत' पाठ के बीच फ़र्क करना उपयोगी हो सकता है। उदाहरण के लिए, त्तिलियों पर किसी विज्ञान की किताब में लेख की तुलना किसी अखबारी स्तंभ में प्रकाशित त्तिलियों पर लेख के साथ या बड़े लोगों के लिए किसी विश्वकोश में इस विषय की प्रविष्टि के साथ और फिर बच्चों की किताब में त्तिलियों पर किसी लेख के साथ की जाए तो पता लगता है कि ये सब भाषा के लिहाज से ही भिन्न नहीं बल्कि अपनी सूचना-संरचना में भी भिन्न हैं।

जिन पुस्तकों की सूचना-संरचना को कुंजियों की जरूरत पड़ती है, उनकी जाँच करनी चाहिए।

अधिकाधिक रचनात्मक पाठ्यपुस्तकें उपलब्ध करवाने का माहौल बनाना चाहिए। अधिक उम्र के सीखने वालों के लिए कल्पनाशील तरीके से सरल अँग्रेजी में लिखी गई पुस्तकों का अकाल है। भारत में निजी क्षेत्र व सार्वजनिक क्षेत्र दोनों जगह बच्चों के लिए लिखा गया रचनात्मक साहित्य व्यापक रूप में उपलब्ध है पर विभिन्न कारणों से इस साहित्य का अधिकाँश भाग कक्षाओं में स्थान नहीं पाता है।

शिक्षक तैयार करना—शिक्षक-प्रशिक्षण और विकास

शिक्षकों की शिक्षा को निरंतर जारी रखने और अपने क्षेत्र से (औपचारिक व अनौपचारिक सहयोगी व्यवस्थाओं द्वारा) जुड़े रहने की आवश्यकता है। साथ ही उसकी तैयारी भी होनी चाहिए। चूँकि अक्सर शिक्षक ही रोल मॉडल उदाहरणार्थ-पठन के लिए होते हैं अतएव भाषा के साथ उनके परिचय या निपुणता पर जोर दिया जाना चाहिए। भाषा-शिक्षण के प्रति शिक्षक में जागरूकता या संवेदनशीलता विकसित करने का यह भी एक तरीका है। निपुणता और पेशेवर जागरूकता को भी बढ़ाने की इतनी ही जरूरत है और विशेष रूप से पेशेवर जागरूकता के बारे में, जहाँ आवश्यक है, शिक्षक को अपनी भाषा में बताया जाना चाहिए।

पाठ्यचर्या अपने क्रियान्वयन से ही महत्त्व पाती है। 1960 की संरचनात्मक पाठ्यचर्या का उद्देश्य था 'टीचर-प्रूफ़' सामग्री तैयार करना। यह

मॉडल भाषायी, शैक्षणिक और मनोवैज्ञानिक सभी मायनों में असफल रहा। उसके बाद की यह मान्यता कि शिक्षक 'शिक्षा को सुगम बनाने वाला है' की विश्वसनीयता पर भी सवाल खड़े हो गए। जहाँ शिक्षक को भाषा-सामग्री का एकमात्र आपूर्तिकर्ता बनने की जरूरत नहीं है (जो कि पाठ्यपुस्तक पर उसकी निर्भरता से जाना जाता है) वहीं किसी भी कक्षा-गतिविधि या नवाचार की सफलता भाषा में शिक्षक के भाषा संबंधी संसाधनों से तय होती है।

(अ) अँग्रेजी में शिक्षकों की निपुणता शिक्षक के संतोष के बोध यानी अँग्रेजी पढ़ाने की उसकी इच्छा से संबंधित है (कृष्णन और पंडित 2003)। अब तक शिक्षक-प्रशिक्षण कार्यक्रमों में इस कारक पर ध्यान नहीं दिया गया है। अपेक्षाकृत देर से अँग्रेजी की शुरुआत कराने की सिफ़ारिश इस बात की अपेक्षा रखती है कि बाद के स्तर पर बेहतर (भाषा-निपुणता) शिक्षक उपलब्ध होंगे (संभव है यह सच न हो)। अब अँग्रेजी का विस्तार कुछ ऐसी स्थितियों तक हो गया है जहाँ शिक्षक और उसकी कक्षा ही एकमात्र स्रोत हो तो शिक्षक की निपुणता पर ध्यान देना अत्यंत आवश्यक हो जाता है।

(ब) निपुणता को यथायोग्य स्थान देने के बाद शिक्षक की तैयारी के वैचारिक या विकासात्मक अवयवों को शिक्षक की अपनी भाषा में देने की स्वतंत्रता होती है ताकि बोधगम्यता और बहस सुनिश्चित हो सके। अँग्रेजी के जरिये शिक्षक-प्रशिक्षण में अक्सर इसके अकादमिक अंतर्वस्तु की भाषा को समझने में कठिनाइयाँ

आई हैं जिससे शिक्षण-प्रविधि में क्लिष्टता आ जाती है। असम का अनुभव (डोवेरा 2005) बताता है कि अकादमिक अंतर्वस्तु को शिक्षक की अपनी भाषा में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। स्कूल शिक्षकों को अनिवार्यतः सेवा-पूर्व प्रशिक्षण और सेवा-काल में नियमित अंतरालों पर प्रशिक्षण मिलना चाहिए; इस बात की व्यवस्था होनी चाहिए कि शिक्षक को लगातार चल रही नियमित गतिविधियों से कुछ देर के लिए अलग किया जा सके। सेवा-पूर्व शिक्षा पाठ्यचर्या और प्रशिक्षकों को समृद्ध बनाने से लाभान्वित हो सकती है ताकि अधिगम में हुए संज्ञानात्मक आंदोलन की झलक आ सके; 'पाठ की योजना' को अक्सर तात्कालिक व्यावहारिक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर बनाया जाता है जबकि विषयवस्तु, नियमों, परिभाषाओं के बजाए भाषा और शब्द-संग्रह 'विकास' के पक्ष में पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं।

(स) यदि कारगर विचारों को पहचानना और उपयोग में लाना है तो कार्य के स्थान पर ही किए जाने वाले हस्तक्षेप अपरिहार्य हो जाते हैं। 'सिद्धांत' (या अकादमिक भंगिमा) और व्यवहार' (या रोजमरा की उत्तरजीविता) तथा सिद्धांतकारों और व्यवहार करने वालों के बीच की गहरी खाई उनके कार्यस्थलों के बीच की खाई का आईना है। यदि 'प्रशिक्षक' पर्याप्त संख्या में उपलब्ध नहीं हैं तो शिक्षक स्वयंसेवी समूह बना सकते हैं। उन्हें पढ़ाई और मीडिया की सामग्री का

समर्थन दिया जा सकता है। इससे जमीनी स्तर के नवाचारों को बढ़ावा मिलेगा।

ऐसे विचारवान शिक्षकों की आवश्यकता है जिनमें भाषा-सीखने और अँग्रेजी-बहुभाषी कक्षा की गहरी समझ हो। मौजूदा सेवा-पूर्व और सेवाकालीन पाठ्यचर्या को इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बदलना होगा। दो ऐसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र हैं जिन्हें शिक्षक-प्रशिक्षण कार्यक्रम में अवश्य सम्मिलित करना चाहिए – सीखने के मनोविज्ञान की समझ तथा भाषा और साक्षरता ग्रहण की प्रक्रियाएँ, इसके साथ ही वे मुद्दे भी शामिल किए जाएँ जिनका जिक्र इस दस्तावेज़ में हुआ है।

मूल्यांकन

सभी जगह परीक्षा को पाठ्यचर्या-सुधार की एकमात्र या प्रमुख बाधा माना जा रहा है। मूल्यांकन-विधि को किस प्रकार एक अड़चन के बजाए शिक्षा के लिए एक सहायक कारक बनाया जा सकता है? **भाषा-मूल्यांकन** को किसी खास पाठ्यक्रम में 'उपलब्धि' तक सीमित नहीं रहना चाहिए बल्कि इसे भाषा-निपुणता की माप की दिशा में मोड़ा जाना चाहिए। हम भाषा-निपुणता के निरंतर जारी मूल्यांकन के कुछ तरीकों पर चर्चा करेंगे।

निरंतर जारी सतत मूल्यांकन

निरंतर जारी, सतत अथवा रचनात्मक मूल्यांकन के लिए की गई सिफ़ारिशों और शिक्षकों द्वारा बताई गई जमीनी वास्तविकताओं और समस्याओं में विरोधाभास यह दर्शाता है कि जारी मूल्यांकन तभी सार्थक हो सकता है जब शिक्षक और शिक्षार्थी अपनी प्रगति का दायित्व स्वयं लें, न कि किन्हीं बाहरी (वास्तविक या काल्पनिक,

तात्कालिक या अंतिम चरण तक) मानदंडों के अनुसार प्रदर्शन करते रहें। शिक्षक और शिक्षार्थियों को सीखने की 'उपस्थिति' जो कि एक मानसिक विकास है और अगोचर है शारीरिक विकास जैसा दिख सकने वाला नहीं, को पहचान सकने में सक्षम होना चाहिए।

किसी ऐसे पोषण कार्यक्रम (क्रेश डायट या चमत्कारी विकास कर देने वाले पोषाहारों के अलावा) के बेतुकेपन की कल्पना करें जिसमें विद्यार्थियों की ऊँचाई और वजन की रोजाना, साप्ताहिक और मासिक अंतराल पर माप करनी पड़े। फिर भी जारी मूल्यांकन का काम ठीक इसी अंतर्दृष्टिहीन रूप से चलता रहा है। यह व्याधि सीखने की प्रक्रिया की गहरी समझ के बगैर दूर नहीं हो सकती क्योंकि यह प्रक्रिया व्यक्तिगत और आत्मनियंत्रित होती है। यह गहरी समझ शिक्षकों के लिए अनिवार्य है ताकि वे बच्चों की भाषा सीखने की प्रक्रिया और निपुणता के सूक्ष्म परिवर्तनों को देख सकें (और सराहना कर सकें)। शायद सभी मूल्यांकनों को अंततः आत्म-मूल्यांकन का ही लक्ष्य रखना होगा (यह शब्दावली दूरवर्ती शिक्षा में प्रचलित तो है पर वहाँ इसकी अनुपस्थिति खेद का विषय है) अगर शिक्षार्थी सीखने के बारे में विकल्पों को स्वेच्छा से चुनने के योग्य है और वह 'जीवनपर्यंत सीखने वाला' बना रहता है। एक शिक्षक जब अपने विद्यार्थियों को जान लेता है मुख्यतः उनके आत्म-मूल्यांकन का सहानुभूतिपूर्ण मददगार होता है (फिर वह एक अनजाना मूल्यांकनकर्ता नहीं रहता जो उपलब्धियों को मानकीकृत मापदंडों से मापता है)। कोई कैसा मूल्यांकन करता है उसी

से तय होता है कि बच्चा अपना मूल्यांकन कराना चाहता है कि नहीं।

जहाँ सर्वाधिक शिशु-केंद्रित मूल्यांकन प्रविधि भी कुछ व्यक्तियों के लिए परेशानी का कारण हो जाती है वहाँ मूल्यांकन की एक व्यवस्था होनी ही चाहिए, इस बारे में कोई विवाद नहीं है। सवाल यह है कि कैसे और कितना। शिक्षार्थी तभी मूल्यांकनों में आराम से भाग लेते हैं जब हमेशा असफल होने का अनुभव न हो और परिणाम को आगे सीखने के लिए एक वैध और उपयुक्त कदम के रूप में देखा जाए। दुर्भाग्यवश अधिकांश बच्चों के लिए शिक्षा-प्रक्रिया में मौजूदा मूल्यांकन विधियों की तात्कालिक भूमिका स्पष्ट नहीं है। शिक्षार्थी की वर्तमान विकास अथवा संप्राप्ति की स्थिति का निर्धारण करके सत्त मूल्यांकन शिक्षण को उत्साहित और निर्देशित करना चाहिए ताकि उसके निकटस्थ विकास के क्षेत्र' की पहचान हो सके। (क्रेशन के अनुसार जब शिक्षार्थी की भाषा i स्तर पर हो तो सामग्री $i+1$ के स्तर पर होनी चाहिए)। सीखने की उपलब्धियाँ भाषायी अवसरों का परिणाम हैं। नीचे हम कुछ ऐसी उपलब्धियों की सूची दे रहे हैं—

बोलना

बोलने की शुरुआत

(क) मातृभाषा (एँ) सीखने में बोलने की प्रक्रिया—पहले एक शब्द जो ज्यादातर संज्ञा-पद होते हैं, से दो-शब्द का स्तर होते हुए कई शब्दों वाले वाक्य जिसमें क्रियाएँ, सहायक क्रियाएँ, निर्धारक, विशेषण और पूर्वसर्ग होते हैं, तक प्रगति करती है। सी.आई.ई.एफ.एल. (जांगिड

2005; 'विजया कार्याधीन') के कुछ शोध बताते हैं कि दूसरी भाषा सीखने वालों की बोली की प्रगति भी इसी प्रकार के समान स्तरों से होकर चलती है। सामान्यतः सीखने वालों का उनकी भाषा पर नियंत्रण औसत लंबे वाक्यों में झलकता है। दीर्घ भाषायी सामग्री का उपयोग भाषा उत्पादन के ऐसे ही परिणामों में दिखता है (उत्तर देने में—जैसे—कि जब बच्चे को तस्वीरें दिखाई जाएँ)। इसके विपरीत जब बच्चों को सख्ती से कक्षाओं में पढ़ाया जाता है तो वे तस्वीरें दिखाने पर स्पष्ट नहीं बोल पाते या ज्यादातर इन तस्वीरों को देखते हुए संज्ञाओं वाले एक शब्द बोल पाते हैं। इस प्रकार शिक्षक 3 या 4 महीनों के अंतराल पर इस तरह का यत्न करके बच्चे के भाषा विकास का आंतरिक बोध पा सकते हैं।

- (ख) ऐसे मूल्यांकनों के परिणाम निम्नलिखित हो सकते हैं—
- (क) प्रत्येक बच्चे के लिए बने पोर्टफोलियो में दर्ज प्रविष्टि (टिप्पणी) के रूप में (पोर्टफोलियो आकलन); या
- (ख) शिक्षक या बच्चे की डायरी में दर्ज करके। शिक्षक-विकास कार्यक्रमों के स्रोत के रूप में शिक्षक डायरियों की काफ़ी चर्चा हो रही है। शिक्षार्थियों को भी अपनी भाषा (या दूसरी भाषा) जिसे वे भलिभाँति जानते हैं, की प्रगति को संचालित करने के लिए सीखने के अपने अनुभवों को निजी डायरियों में उन्मुक्त रूप से दर्ज करने को प्रोत्साहित किया जा सकता है।

बोलना : उप-कुशलताएँ—बाद के स्तरों पर जाँच के लिए बोलने की कुशलता को उप-कुशलताओं के जरिये विश्लेषित किया जा सकता है।

पढ़ना

बोध और कठिनाई के स्तर पर स्वयं की प्रगति पर नजर रखना— अंग्रेजी 400 जैसे पढ़ने के कार्यक्रमों में कठिनाइयों के विविध स्तरों के अनुरूप बने कार्डों द्वारा प्रगति के आकलन की विधि साथ-साथ तैयार मिलती है। इनके मूल्यांकन का मानकीकरण करने की आवश्यकता है।

पढ़ना : कुछ उप-कुशलताएँ

- (क) जोर-जोर से पढ़ना/डिकोडिंग जैसे-जैसे बच्चे डिकोडिंग में ज्यादा निपुण होते जाते हैं वे अधिक तेजी से (शब्द प्रति मिनट) और कम गलतियों के साथ पढ़ने लगते हैं। ऐसे भी बच्चे हो सकते हैं जो किसी शब्द को अक्षरों में बाँटकर पढ़ने से शुरु करें ताकि शब्द के हिज्जे करते हुए उसका उच्चारण कर सकें, हिज्जे करने का यह कौशल बाद में नए शब्द सीखने तक पहुँच जाता है।
- (ख) किसी सूचना के लिए पाठ की पूरी तरह छानबीन (जैसे किसी सूची, टेलिफ़ोन डॉयरेक्टरी, विज्ञापन आदि को)।
- (ग) दी हुई सूचना के लिए पठन (तथ्यात्मक बोधगम्यता)।
- (घ) निष्कर्ष के लिए पढ़ना।
- (ङ) विस्तारित पठन।

लेखन और सुनने की जाँच को भी इसी तरह उप-कुशलताओं में बाँटा जा सकता है। इस प्रकार

की जाँच को एकीकृत भाषा जाँच (उदाहरणार्थ, क्लोज टेस्ट से शुरु करके) से अनुपूरित किया जा सकता है। मूल्यांकन के लिए उप-कुशलताओं के इस नजरिये से शिक्षक को प्रत्येक शिक्षार्थी की खास विशेषताओं की अंतर्दृष्टि मिल सकती है। मसलन कोई मुखर या स्पष्टवादी शिक्षार्थी पढ़ने जैसी अंतर्मुखी और निजी गतिविधि में अच्छा न हो या बहुत रुचि न ले सकता हो। एक शिक्षक विद्यार्थी के मजबूत और कमजोर क्षेत्रों को पहचान सकता है जहाँ मदद की जरूरत है।

समेकित मूल्यांकन

‘उपलब्धि’ की बजाए ‘निपुणता’ की दिशा में ही होना चाहिए अर्थात् पढ़े हुए अंशों पर अधिकार का परीक्षण करने के बजाए भाषा का नए (भले ही बार-बार आने वाले) संदर्भों में उपयोग की योग्यता हो, इसमें—

- उम्र के अनुकूल सामग्री को पढ़ना।
- उम्र के अनुकूल सामग्री को सुनना और समझना।
- उम्र के अनुकूल सामग्री/विषयों पर बातचीत करना।
- उम्र के अनुकूल विषयों पर लेखन।
- ग्रहणशील शब्दावली पर अधिकार।
- अभिव्यक्ति-योग्य शब्द-संग्रह पर अधिकार।

भाषा-निपुणता के राष्ट्रीय मानदंडों के विकास के लिए पहले इन सभी मुद्दों पर अखिल भारतीय प्रतिनिधि नमूनों के विश्वसनीय और विवरणात्मक आँकड़े इकट्ठे करने की जरूरत है। राष्ट्रीय स्तर के ऐसे मानदंड या औसत, जहाँ जरूरत हो वहाँ सामाजिक विज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में समर्थन

की पहल के लिए पूर्वगामी होते हैं। इनसे, सीखने के प्रयास में दी जाने वाली जिस पाठ्यचर्यात्मक स्वतंत्रता का हमने सुझाव दिया है, और मूल्यांकन के मानकीकरण, जो प्रमाणीकरण के लिए आवश्यक हैं, का संतुलन भी बना रहेगा।

इन मानदंडों के द्वारा राष्ट्रीय अंग्रेजी भाषा परीक्षाओं के एक सैट, अर्थात् परीक्षाओं के एक बैंक को निर्मित करना होगा जिसे शिक्षक और शिक्षार्थी स्व-मूल्यांकन के लिए प्रयोग कर सकते हैं। इन परीक्षाओं को एक विस्तृत ग्रेड या अँकों की बजाए निपुणता के अधिक सूक्ष्म मापक तय करने चाहिए (वर्तमान में, अनदेखे उदाहरणों की बोध गम्यता पर मिले आँकड़ों को पढ़े हुए उदाहरणों को याद करने के परीक्षण में मिले अँकों से मिश्रित कर दिया गया है, जिससे 'निपुणता' और 'उपलब्धि' को एक जैसा ही मान लिया गया है), शिक्षकों का यह दृढ़ अंतर्ज्ञान है कि इन चारों कुशलताओं में सभी शिक्षार्थी एक समान निपुण नहीं होते; इसीलिए कुशल वक्ता जरूरी नहीं कि कुशल लेखक हों क्योंकि 'शुद्धता' और 'प्रवाह' के बीच, संभव है कि सीखने की प्रक्रिया के दौरान कोई समझौता हो गया हो। सभी पेशों के लिए सभी कुशलताएँ जरूरी भी नहीं होतीं। विभिन्न शिक्षार्थियों की अभिरुचि और क्षमता के अंतर को दर्शाने वाले अँक जहाँ रोजगार-संभावनाएँ बढ़ाएँगे वहीं इसका पाठ्यचर्या पर 'वाशबैक' प्रभाव पड़ेगा।

राष्ट्रीय अंग्रेजी भाषा परीक्षाएँ दसवीं कक्षा में प्रमुख रूप से अंग्रेजी (गणित के साथ) के कारण फेल होने की वर्तमान समस्या का निदान होने के कारण भी महत्वपूर्ण हो जाती हैं। यदि अंग्रेजी के प्रमाण पत्र के

लिए (और शिक्षण के लिए) नियमित स्कूली पाठ्यचर्या से अलग कोई वैकल्पिक रास्ता दिया जा सके तो 'शिक्षार्थी को अंग्रेजी के बिना' कक्षा 10 उत्तीर्ण करने की अनुमति दी जा सकती है।

कुल मिलाकर, भाषा की कुशलता के लिए बने **मानकीकृत राष्ट्रीय मानदंड** जो विभिन्न स्तरों की राष्ट्रीय अंग्रेजी भाषा परीक्षा के रूप में ढलते हैं, इनसे—

1. व्यक्तिगत रूप से विद्यार्थी या स्कूल को अपनी स्थिति का जाँजा लेने में मदद होगी— कि उनकी शक्ति और कमजोरियाँ क्या हैं और वे आगे तरक्की कैसे कर सकते हैं।
2. आकलन के मानकीकरण के साथ सीखने की स्वतंत्रता (पाठ्यचर्या, समय अवधि) का संतुलन हो सकता है।
3. दसवीं कक्षा में अंग्रेजी की असफलता को दसवीं कक्षा में फेल हो जाने से अलग करके नियमित स्कूली पाठ्यचर्या से अलग अंग्रेजी प्रमाण-पत्र का एक वैकल्पिक रास्ता उपलब्ध करवाया जा सकता है।

दो पूरक टिप्पणियाँ

भाषा सीखने की दृष्टि से 'विशेष अवधि' और 'संवेदनशील समय' (सेंसिटिव विंडो) की प्राक्कल्पना

इस बात पर खूब चर्चा है कि क्या मस्तिष्क का 'भाषाग्राही उपकरण' प्रौढ़ व्यक्ति में दूसरी भाषा के ग्रहण के लिए भी काम करता है। इस विषय को एक मानक पत्रिका 'सैकंड लैंग्वेज रिसर्च' जो 1985 से शुरु हुई, में दिया गया है। जानसन

और न्यूपोर्ट (1989) का एक क्लासिकी अध्ययन व्याकरण के एक सिद्धांत *सबजेकेंसी* (अर्धलग्नित) और दूसरी भाषा-ग्रहण की उम्र के बीच परस्पर संबंध सुझाता है।

बच्चों में भाषा-ग्रहण के लिए लिनबर्ग (1967) ने विशेष अवधि का एक जैविक तर्क दिया था कि यह अवधि 2 से 12 वर्ष की उम्र या तरुणावस्था तक होती है। लिनबर्ग की प्राक्कल्पना जीव-वैज्ञानिक रूप से शारीरिक और मानसिक संरचना को एक नियत समयावधि के अंदर सक्रिय करने के बारे में थी (इसे संवेदनशील समय' भी कहा जाता है)। प्रौढ़ों के द्वारा दूसरी भाषा सीखने में इसके दावे सीमित थे और वे अपनी चर्चा को वाचिकता (*रिलेटरलाइजेशन*) या तांत्रिकीय सुघट्यता (न्यूरल प्लास्टिसिटी) के द्वारा हुए भाषा-क्षरण (मातृभाषा) की भरपाई पर केंद्रित करते हैं।

केशन (1985) ने लिनबर्ग से असहमति जताई। वे सप्रमाण कहते हैं कि विशेष अवधि [(वाक्लोप अप्रेसिया) की भरपाई की समय-अवधि] 5 वर्ष की आरंभिक उम्र में ही खत्म हो जाती है, लेकिन (जैसा कि अधिकांश शोधकर्ताओं का मानना है) दूसरी भाषा के ग्रहण, जो कि मूल निवासियों के उच्चारण जैसा हो, को शिक्षार्थी 8 वर्ष की उम्र तक कर सकते हैं (इस उम्र के बाद उच्चारण पर असर पड़ता है)। दूसरी तरफ वर्तमान शोध के अनुसार 'मातृभाषा-बोध का फिल्टर' बच्चों में बहुत पहले आ जाता है। जिससे बच्चे हर भाषा में छांदिक पहचान (बलाघात और लय के अनुसार) जन्म से ही कर सकते हैं, पर दो महीने की उम्र से ही वे दूसरे भाषा-प्रकारों से केवल

अपने भाषा-प्रकार को अलग कर सकते हैं। (जैसे कि फ्रांसीसी/स्पेनी से अंग्रेजी/डच को) (मेहलर और क्रिस्टोफ, 2000)। (इससे शिशुओं को अपनी भाषा का शब्दक्रम निर्धारित करने (एस.वी.ओ. /एस.ओ.वी.) में सहायता मिलती है)। द्विभाषी बच्चे अंतर कर सकने वाली अवस्था पाने में थोड़ा ज़्यादा वक्त (चार महीने का) लगाते हैं।

स्वाभाविक व अस्वाभाविक भाषा-ग्रहण की विशेष भाषा-दक्षता से विविध उम्रों के संबंध के इसी प्रमाण के कारण संवेदनशील समय (जो सीखने की उपयुक्त अवधि सुझाता है) के स्थान पर भाषा सीखने की दृष्टि से विशेष अवधि (जो कि सीमाएँ निर्धारित करता है) का उपयोग होने लगा।

शोधकर्ता, जो ब्रेन-इमेजिंग की तकनीक का प्रयोग करके वयस्कों में मस्तिष्क की गतिविधियों का अवलोकन करते हैं, उन्होंने निपुणता के स्तर और प्रतिनिधित्व के क्षेत्र के बीच जुड़ाव तो पाया है पर भाषा-ग्रहण की उम्र का कोई प्रभाव नहीं पाया है (पेरानी आदि 1998)। यह पी.ई.टी. अध्ययन उन इतालवी लोगों पर किया गया, 'जिन्होंने दस वर्ष की उम्र के बाद अंग्रेजी सीखी और अच्छा प्रदर्शन किया' (मेहलर और क्रिस्टोफ 2000 :903)। किम व अन्य द्वारा इस 'मूकवाचन' का एफ.एम.आर.आई. के उपयोग से किए गए एक अध्ययन में दो भाषाओं में अधिग्रहण की उम्र में वर्निक के क्षेत्र (बोधगम्यता) में अधिव्याप्ति देखी गई पर ब्रोका के दो भाषाओं के क्षेत्र (उत्पादन) में अंतर पाया गया। पर यह अध्ययन निपुणता पर कोई नियंत्रण नहीं कर पाया।

स्पष्ट है कि इन अध्ययनों के परिणाम ज़्यादा से ज़्यादा अनेकार्थी कहे जा सकते हैं। इन क्षेत्रों में

भारतीय शोध बहुत कम है। जो भी हो, पाँचवीं कक्षा (10 से ज्यादा उम्र) से भी अँग्रेजी की शुरुआत करना लिनबर्ग के 'झरोखे' के अंतर्गत ही आता है। दरअसल यह मसला उतना बड़ा नहीं है कि अँग्रेजी की शुरुआत किस उम्र से हो बल्कि मसला यह है कि इस भाषा को सीखने के लिए क्या अनुभव और सुविधाएँ उपलब्ध हैं, लंबे असफल अवसरों (कक्षा एक से दसवीं कक्षा तक) के बजाए दो या तीन वर्षों के बेहतर अवसर अधिक अच्छे हैं।¹⁷

भारत में वयस्कों को सफलतापूर्वक विदेशी भाषाएँ (फ्रांसीसी, जर्मन) सिखाने के अनुभव से भी कुछ सीखा जा सकता है। इसके अलावा निम्नलिखित भारतीय अनुभव—

1. ससुराल की भाषा सीख रही बहुएँ।
2. क्षेत्रीय भाषा-माध्यम के स्कूलों से निकले वे लोग जिन्होंने अँग्रेजी के अकादमिक व बौद्धिक क्षेत्र में मूल निवासियों जैसी निपुणता हासिल की हो।
3. अखिल भारतीय सेवा के लोगों और उनके परिवार की बहुभाषिकता पर पकड़।

इन अनुभवों को लिपिबद्ध करने, सावधानी से मूल्यांकन करने और इनकी आलोचनात्मक जाँच करने की आवश्यकता है।

इस बीच, सफलता के वैकल्पिक तरीकों का प्रदर्शन करके ही समाज की प्रचलित वैकल्पिक प्रवृत्तियों को रोका जा सकता है। हमें बहुभाषीय स्कूल खोलने का लक्ष्य अपनाना चाहिए जहाँ किसी भी अकेली भाषा को 'शिक्षण का माध्यम' का विशेष दर्जा हासिल न हो बल्कि वहाँ उपलब्ध भाषाओं का उपयोग संसाधनों के स्रोत के रूप में हो।

कैसी अँग्रेजी?

अपने प्रारंभिक बोलचाल के स्वरूप से ही भाषा सामाजिक या भौगोलिक बोलियों का सत्त रूप है जो कि सन्निकट स्थानों पर समझ लिया जाता है पर जब स्थान सामाजिक, भौगोलिक या समय के लिहाज से दूर हों तो समझने में कठिनाई होती है। अधिकांश वक्ता एक से अधिक बोलियों या भाषा-प्रकारों (औपचारिक या अनौपचारिक विविधताओं) पर अधिकार रखते हैं। भाषा के लेखन की विविधताओं ने मुद्रण के आविष्कार के बाद एक मानकीकृत किस्म का रूप लेना शुरु किया है जो विशेष रूप से शिक्षा और अकादमिक जीवन में एक मानक की तरह कार्य करता है, इस तरह के संप्रेषण के सापेक्षिक स्थायित्व के लिए यह आवश्यक भी है। भारत के लिए अँग्रेजी का कौन सा प्रकार उपयुक्त है, इस पर बहस अधिकतम उच्चारण (बोलचाल की अँग्रेजी) के आसपास ही सिमटी रही है, दूसरा स्थान शब्दकोश या शब्द-भंडार का रहा है। स्वीकार्य उच्चारण की कसौटी बोधगम्यता होनी चाहिए। डेविड क्रिस्टल के अध्ययन का तीन बोलियों का मॉडल जहाँ वक्ता एक स्थानीय बोली (जैसे पंजाबी-अँग्रेजी या तमिल-अँग्रेजी) से सहजता से एक राष्ट्रीय बोली (भारतीय अँग्रेजी) या अंतर्राष्ट्रीय बोली तक पहुँच पाता है, एक उपयुक्त मॉडल लगता है। कॉल सेंट्रों में युवा भारतीयों की सफलता बताती है कि 'उच्चारण ट्रेनिंग' में क्षेत्रीयताओं को भूलकर तटस्थ वाचन शैली अपनाती होती है। यह बोलने को धीमा करके और स्पष्टता से लयबद्ध उच्चारण द्वारा काफ़ी हद तक हासिल किया जा सकता है।

¹⁷ पश्चिम बंगाल में प्राथमिक शिक्षा पर गठित एक सदस्यीय कमीटी की रिपोर्ट भी देखें, 1998, पृ. 22-28.

ये ही कारक हैं जो किसी भी भाषा में उच्चारण की ध्वनि को सुधारते हैं।

ध्वनि की अगर बात करें, तो बोलचाल की 'भारतीय अँग्रेजी' की कुछ अखिल भारतीय विशेषताएँ बताई गई हैं। जैसे संयुक्त स्वर की जगह लंबे स्वर और मूर्धन्य व्यंजनों की जगह वत्स्य व्यंजन। भारतीय अँग्रेजी की कई विशेषताएँ वक्ताओं की मातृभाषाओं की झलक देती हैं। यह तथ्य है कि 'भारत' एक राष्ट्र है पर 'भारतीय' नामक कोई एक भाषा नहीं है। मातृभाषियों की ये विशेषताएँ जितनी कम दुराग्रही/बाध्यकारी होंगी, दूसरी भाषाओं के उच्चारण की स्वीकार्यता उतनी ही बढ़ेगी। सामान्य अनुभव बताता है कि किसी एक व्यक्ति के बोलने की शैली एक से अधिक हो सकता है, कुछ उसी तरह जैसे कि वह अपनी मातृभाषा के अलावा कई और उच्चारणों को समझता है।

शब्द-संग्रह पर आएँ, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से किसी भाषा का शब्द-संग्रह एक ऐसी खुली कक्षा है जो जितना उधार लेती है, उतना ही समृद्ध होती है। सर्वविदित है कि अँग्रेजी शब्द-संग्रह की शक्ति उसके स्रोतों की समृद्धि है। मानक शब्दकोशों के साथ भारत में प्रचलित अँग्रेजी शब्दों के परिशिष्ट भी दिए गए हैं। निश्चित रूप से इन्हें कक्षा से बाहर रखने का कोई कारण नहीं है। हम शब्दकोशों में पूर्व सर्गों के मुहावरेदार प्रयोगों को शामिल कर सकते हैं। On a Bus

की बजाए In a bus का प्रयोग, और गणित में Into का प्रयोग। ब्रिटिश अँग्रेजी में Into का अर्थ एक संख्या से दूसरी संख्या को विभाजित करना होता है जबकि भारत में संख्याओं को गुणा करना। ऐसे प्रयोगों को अमानकीकृत व्याकरण नहीं समझना चाहिए।

शेष के लिए हम एक बोधगम्य सामग्री-समृद्ध पाठ्यचर्या की अपेक्षा करते हैं जो कि मस्तिष्क में ऐसे भाषा तंत्र की रचना करे जो लगभग मानक किस्म का हो [अधिक चर्चा के लिए देखें प्रभु (1987)]।¹⁸ स्पष्टतः हम भारतीय अँग्रेजी को कमतर नहीं मानते, और एक बार भाषा में निपुणता एक बुनियादी व्याकरणिक दक्षता आ जाने के बाद भारतीय शिक्षकों की अँग्रेजी भी कमतर नहीं होती है। लेकिन एक राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की परिकल्पना में सभी तरह के सीखने वालों के लिए समान तुलनात्मक सामग्री होनी चाहिए। इस विचार कि अँग्रेजी पहले कुछ सुविधासंपन्न लोगों को उपलब्ध हो और बाकियों को बाद में, पहले से ही समीक्षा की जा रही है। हम नहीं चाहते कि कुछ लोग अँग्रेजी सीखें और कुछ भारतीय अँग्रेजी। हम मानते हैं कि एक मानक और आत्मसातीकृत अँग्रेजी की दक्षता पाना न सिर्फ़ व्यावहारिक है बल्कि अपेक्षित भी है।

अँग्रेजी का कौनसा मॉडल पढ़ाया जाए, यह शिक्षकों के दिमाग पर इतना हावी नहीं होना

¹⁸ ऐसे तंत्र में कुछ भारतीय विशेषताएँ दिख जाती हैं जो कि समझने के लिहाज से तो कोई दिक्कत नहीं पैदा करतीं, पर उनकी सामाजिक मान्यता अवरोध पैदा करती है। उदाहरणस्वरूप Too Good का प्रयोग Very Good के लिए करना अभिप्रेत अर्थ में हस्तक्षेप करता है। इसमें सुधार की जरूरत है। प्रश्नों में Auxiliary को उल्टा नहीं करने में असफल रहा सन्निहित और अनावश्यक रूप से। Auxiliary को उल्टा करना, (Why you said so? I wonder why did he say so) बौद्धिक रूप से समझने में कतई बाधक नहीं है जबकि शैक्षिक व सामाजिक दृष्टि से इन पर प्रश्न उठाए जा सकते हैं।

चाहिए कि वह किसी तरह की भी अँग्रेजी के ग्रहण में बाधक बन जाए। ऐसा भी नहीं है कि अँग्रेजी में दक्षता की कमी की सफ़ाई भारतीय अँग्रेजी' के नाम पर दी जाए। व्यापक परिप्रेक्ष्य में वैश्विक बाजार में भारत के शिक्षकों (और शिक्षक-प्रशिक्षकों) की भी काफ़ी माँग है। इससे हमारी अँग्रेजी की अधिक क्षमताओं पर विश्वास को और बल मिलना चाहिए।¹⁹

शोध परियोजनाएँ

भाषा-शिक्षण में आधारभूत आँकड़ों की प्राप्ति, पाठ्यचर्या के नवाचार और उनका क्रियान्वयन तथा दूसरी भाषा अधिग्रहण की समझ की सैद्धांतिक प्रगति के लिए शोध परियोजनाओं को मौजूदा सोच पर आधारित होना होगा। व्यापक क्षेत्र जिनमें ऐसी परियोजनाओं की अवधारणा हो सकती है, वे हैं

1. पूरी पाठ्यचर्या में भाषा:सामाजिक विज्ञान और विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों की भाषा (मौखिक गणित की भी)। प्रश्नों की पद्धति और भाषा से विषयवस्तु का संबंध।
2. (अ) भाषायी सामग्री और भाषायी वृद्धि : एक समग्र परिप्रेक्ष्य,
(ब) बोलचाल की भाषा (मुद्रित सामग्री के साथ और उसके बगैर),

- (स) लिखित भाषा (जोर से बोलकर पढ़ने के साथ और उसके बगैर),
- (द) प्राथमिक स्तर पर अँग्रेजी की स्थिति,
- (य) पाठ्यसामग्री और गतिविधियों का बैंक (स्तर 1)
3. बहुभाषावाद को बढ़ावा देने वाली युक्तियाँ और सामग्री।
4. विशेष समूहों के लिए (सामाजिक हाशिये पर, सीखने में कमजोर क्षमता वाले) पाठ्यचर्या के विकल्प।
5. शिक्षक-प्रशिक्षण कार्यक्रमों के परिणाम।

सिफ़ारिशें

शिक्षक

- अँग्रेजी पढ़ाने वाले सभी शिक्षकों की अँग्रेजी में बुनियादी निपुणता होनी चाहिए।
- सभी शिक्षकों में अपनी परिस्थितियों और स्तरों के अनुसार उपयुक्त ढंग से अँग्रेजी पढ़ाने की कुशलता हो जो इस ज्ञान पर आधारित हो कि भाषाएँ कैसे सीखी जाती हैं। इन दोनों सिफ़ारिशों का संबंध सेवापूर्व व सेवाकालीन शिक्षक-प्रशिक्षण कार्यक्रमों की विषयवस्तु से है।

¹⁹ एक रुचिकर प्रश्न भाषा शिक्षण और अँग्रेजी भाषा शिक्षण के संबंध को लेकर है। जहाँ अँग्रेजी भाषा शिक्षण को ब्रिटिश उद्योग के रूप में देखा जा सकता है। हमने अपनी चर्चा को दूसरी भाषा के अधिग्रहण के व्यापक क्षेत्र से जोड़ा है। इस परचे में हमने अपनी जिम्मेदारी शैक्षणिक संदर्भों में देखते हुए, इस राष्ट्र में पाठ्यचर्या नवीनीकरण के कार्य को संबंधित किया है। इसमें हमने सीखने के मनोविज्ञान और भाषा के मनोविज्ञान की वर्तमान अंतर्दृष्टि का यथोचित उपयोग किया है। इसलिए हमारे कई अवलोकन और सिफ़ारिशें (जैसे संज्ञानात्मक अकादमिक भाषायी दक्षता की चर्चा) सामान्य रूप से भाषा शिक्षण (या शिक्षा में भाषा) से संबंधित है। ई.एल.टी. पेशे की काफ़ी सारी वर्तमान चर्चा अँग्रेजी की राजनीति और विचारधारा पर आधारित है- तीसरी दुनिया पर अँग्रेजी (और व्यापक रूप से पश्चिमी) के वर्चस्व के संदर्भ में (देखें कनगराजा 2005)। बहुभाषावाद के सरोकार और स्थानीय भाषा के महत्त्व और विकल्प हमारे सिफ़ारिशों में काफ़ी हद तक शामिल है। इसीलिए हमें पश्चिम और हमारे बीच की बौद्धिक बहसों में जाने की जरूरत नहीं लगती है। क्योंकि खासतौर से हम मानते हैं कि मानक और आत्मसातीकृत अँग्रेजी दक्षता व्यावहारिक तथा अपेक्षित है।

पाठ्यचर्या

- अर्थ पर बल देने वाली सार्थक और समृद्ध पाठ्यचर्या उपलब्ध करवाने के लिए विविध प्रकार की सामग्री उपलब्ध करवाई जानी चाहिए।
- अँग्रेजी माध्यम तथा क्षेत्रीय भाषा माध्यम वाले दोनों प्रकार के स्कूलों का लक्ष्य बहुभाषिकता होना चाहिए। इसी तरह पूरी पाठ्यचर्या में भाषा का दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए।

इन सिफारिशों का संबंध पाठ्यपुस्तकों की रूपरेखा और उपयुक्त तरीकों (जैसे कक्षा-पुस्तकालय व मीडिया सामग्री) के चयन से है।

मूल्यांकन

- मूल्यांकन इस तरह हो कि वह सीखने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करे न कि उसमें बाधा क बने। सत्त मूल्यांकन में 'पोर्टफोलियो विधि' द्वारा शिक्षार्थी की अधिगम में प्रगति को दर्ज किया जाना चाहिए। भाषा मूल्यांकन को कुछ खास पाठ्यक्रमों में 'उपलब्धि' तक सीमित न रखकर भाषा-निपुणता के मापन की दिशा में मोड़ना चाहिए।
- अँग्रेजी भाषा परीक्षणों के सेट तैयार करने से पहले भाषा निपुणता के राष्ट्रीय मानदंड विकसित किए जाने चाहिए।

संदर्भ

- अमृतावल्ली, आर. 1999, *लैंग्वेज. इज. ए डाइनामिक टेक्स्ट-ऐसेज ऑन लैंग्वेज, कॉग्नीशन एंड कम्युनिकेशन*. सी. आई.ई.एफ.एल, अक्षरा सीरीज, हैदराबाद, एलाइड पब्लिशर्स.
- 2001, *एप्लायड रिसर्च इन लैंग्वेज एजुकेशन*, सी.जे. देसवानी (संपादक), *लैंग्वेज एजुकेशन इन मल्टीलिंगुअल इंडिया* में, यूनेस्को, नयी दिल्ली, पृ० 210-263.
- अमृतावल्ली, आर. और लक्ष्मी रामेश्वर राव, 2001, कोपिंग विद श्री लैंग्वेजेज इन स्कूल- फोकस ऑन मल्टीलिंगुअल रीडिंग, *हिंदू, एजुकेशनल सप्लीमेंट*, 13 मार्च.
- ऑकहिल, जेन एंड रोजर बियर्ड (संपादक), 1999, *रीडिंग डेवलपमेंट एंड द टीचिंग ऑफ़ रीडिंग- ए साइकोलॉजिकल पर्सपेक्टिव*, ऑक्सफोर्ड, यू. के. मालडन, मास., ब्लेकवेल पब्लिशर्स.
- एडम्स, मैरिलीन जैगर, 1990. *बिगनिंग टू रीड, थिंकिंग एंड लर्निंग एबाउट प्रिंट, केब्रिज*, एम.ए., एम.आई.टी. प्रेस.
- एचिसन, जीन 1988. *वर्ड्स इन द माइंड-एन इंट्रोडक्शन टू द मेंटल लेक्सिकन*, ऑक्सफोर्ड, यू.के., ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- एलड्रिज, जे लॉयड, 1995, अध्याय 1, होल *लैंग्वेज टीचिंग डीकोडिंग इन हॉलीस्टिक क्लासरूम्स*, इंगलवुड क्लीप्स, एन.जे.- मेरील पृ. 1-16.
- एली, वारविक और फ्रांसीस मंगूभाई, 1981, *इंपेक्ट ऑफ़ ए बुक फ्लड इन ए फिजी प्राइमरी स्कूल, स्टडीज इन साउथ पैसिफिक एजुकेशन 1*, पृ. 1-30, न्यूजीलैंड काउंसिल फॉर एजुकेशनल रिसर्च, वेलिंगटन.
- एली, वारविक और ब्रायन कटिंग, 2001, 'द सनशाइन इन साउथ अफ्रीका' लिटरेसी प्रोजेक्ट, *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ एजुकेशनल रिसर्च* 35, पृ. 193-203.

- एली, वॉरविक एंड फ्रांसिस मंगुभाई, 1983, द इंपेक्ट ऑफ रीडिंग ऑन सैकंड लैंग्वेज लर्निंग. *रीडिंग रिसर्च क्वार्टली* 19, पृ. 53-67.
- एली, वारविक 2000, 'द पोटेणशियल ऑफ बुक फ्लड्स फॉर रीडिंग लिटरेसी लेवल्स, *इंटरनेशनल रिन्युट ऑफ एजुकेशन* 46 : 3/4. पृ. 233-55.
- 2001, कॉनक्लुजन— वॉट हेव वी लन्ड *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एजुकेशनल रिसर्च*, 35, पृ. 237-46
- 2001, गेस्ट एडीटर्स इंट्रोडक्शन, *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एजुकेशनल रिसर्च*, 35, पृ. 127-35
- कनागराजा, ए. सुरेश (संपादक) 2005, *रीक्लेमिंग द लोकल इन लैंग्वेज पॉलिसी एंड प्रैक्टिस*, महावाह, एन.जे.एल. अर्लबम एसोसिएट्स.
- क्रिस्टल, डेविड 2004, *द लैंग्वेज रिवोल्यूशन*, केंब्रिज; मॉलडन, एम.ए.—पॉलिटी प्रेस.
- कमिंस, जे. 1979, लिंगुएस्टिक इंटरडिपेंडेंस एंड द एजुकेशनल डेवलपमेंट ऑफ बाइलिंगुअल चिल्ड्रेन, *रिव्यू ऑफ एजुकेशनल रिसर्च* 49, पृ. 222-5.
- 1984, *बाइलिंगुअलिज्म एंड स्पेशल एजुकेशन इशूज इन एसेसमेंट एंड पेडागॉजी*, क्लेवडन मल्टीलिंगुअल मैटर्स.
- क्रशेन, स्टीफेन डी. 1985, *द इनपुट हायपोथिसिस—इशूज एंड इंप्लीकेशंस*, लंदन; न्यूयॉर्क, लांगमेन.
- क्रशेन, स्टीफेन डी. और ट्रेसी डी. टर्नेल, 1983, *द नेचुरल एप्रोच—लैंग्वेज एक्वीजिशन इन द क्लासरूम*. हेवार्ड, सी ए, एलमनी प्रेस.
- कुमार, गीता, 2005, *टीचिंग इंग्लिश—ए टीचर्स पर्सपेक्टिव*, मैसर्स. एन. एफ. जी.—इंग्लिश.
- कुमारदास, श्यामला, 1993, *ए केस फॉर लर्नर—चोषेन टेक्सट्स एज इनपुट इन एडल्ट लैंग्वेज लर्निंग*, एम.फिल थीसिस, सी.आई.ई.एफ.एल, हैदराबाद.
- कुरियन, जॉन, 2005, *नोट्स फ्रॉम द मीटिंग ऑफ द नेशनल फोकस ग्रुप ऑन टीचिंग ऑफ इंग्लिश*, एंड नोट ऑन *इंट्रोडक्शन ऑफ इंग्लिश एट द प्राइमरी स्टेज*, मैसर्स, एन.एफ.जी.— इंग्लिश.
- खान, नसीरुद्दीन, 2005, *इंट्रोडक्शन ऑफ इंग्लिश एज ए सब्जेक्ट एट द प्राइमरी लेवल*, मैसर्स, एन.एफ.जी., इंग्लिश.
- गोस्वामी, उषा, 1999, फोनोलॉजिकल डेवलपमेंट एंड रीडिंग बाई एनालॉजी, एपिलिंगुएस्टीक एंड मेटालिंगुएस्टीक इशूज. जेन ऑकहिल और रोजर बियर्ड (संपादक) *रीडिंग डेवलपमेंट एंड टीचिंग ऑफ रीडिंग—ए साइकोलॉजिकल पर्सपेक्टिव*, ऑक्सफोर्ड, यू.के., मॉलडन, मास, ब्लेकवेल पब्लिशर्स. पृ. 174-200.
- ग्रेडोल, डेविड, 1997, *द फ्युचर ऑफ इंग्लिश*, लंदन, ब्रिटिश काउंसिल.
- चॉम्स्की, नॉम, 1975, *रिफ्लेक्शंस ऑन लैंग्वेज फ्लेन्यूयॉर्क*, पेंथॉन बुक्स.
- जॉर्ज, पी.टी. 1977, ब्रिजिंग द गैप बिटवीन स्कूल एंड कॉलेज— *रिपोर्ट ऑफ ए ट्राई-आउट ऑफ द स्टेयरवे रीडिंग कोर्स*. सी.आई.ई.एफ.एल. बुलेटिन 13 :1, पृ. 37 : 49.
- जांगीड, गीता, 2005, *लिटरेसी एंड लैंग्वेज डेवलपमेंट— ए होल लैंग्वेज पर्सपेक्टिव*, पीएच. डी. थीसिस, सी.आई.ई.एफ.एल., हैदराबाद.
- डेविस, पॉल और मारिओ रिनवॉलुक्री, 1988, *डिक्टेसन— न्यू मैथड्स, न्यू पॉसिबिलिटीज*, केंब्रिज हैंडबुक फॉर लैंग्वेज टीचर्स, सीरिज एडिटर पैनी उर, केंब्रिज, केंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
- डोवेरा, स्वप्न, 2005, *इक्लेक्टिसिज्म इन मेथेडॉलॉजी*, मैसर्स, एन.एफ.जी. इंग्लिश.
- दास, बिक्रम के, 2005, *फोकस ऑन इंग्लिश*. मैसर्स, एन.एफ.जी. इंग्लिश.

- नाग अरुलमणि, एस, 2000, *टाइप्स एंड मेनीफेस्टेशंस ऑफ़ लर्निंग डिफिकल्टीज इन इंडियन क्लासरूम्स*, पेपर प्रजेंटेटेड एट द फर्स्ट ऑरिएंटेशन प्रोग्राम फॉर स्कूल टीचर्स, नेशनल इंस्टीट्यूट फॉर पब्लिक का-ऑपरेशन एंड चाइल्ड डेवलपमेंट (एन.आई.पी.सी.सी.डी), बेंगलुरु, इंडिया,
- , एस. 2005, *लैंग्वेज अटैनमेंट्स एंड लर्निंग ऑप्रचुनिटिज— प्वायंट्स फॉर ए न्यू कूरिकुलम फ्रेमवर्क*, मैसर्स, एन.एफ.जी., इंग्लिश.
- नाग अरुलमणि, एस., वी. रेड्डी, और एस. बक्ले, 2003, टारगेटिंग फोनोलॉजिकल रिप्रेजेंटेशंस केन हेल्प इन द अर्ली स्टेज्स ऑफ़ रीडिंग इन ए नॉन-डॉमिनंट लैंग्वेज, *जर्नल ऑफ़ रिसर्च इन रीडिंग* 26-1, पृ. 49-68, स्पेशल इश्यू ऑन द डेवलपमेंट ऑफ़ लिटरेसी अमंग बाइलिंगुअल एंड मल्टीलिंगुअल चिल्ड्रेन, यू.के., ब्लेकवेल पब्लिशर्स.
- प्रभु, एन.एस. 1987, *सेकंड लैंग्वेज पेडागॉजी*, ऑक्सफोर्ड; न्यूयॉर्क, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- फॉसेट, ए.जे. और आर.आई. निकोलसन, 1991, वॉक्युबलरी ट्रेनिंग फॉर चिल्ड्रेन विद डायलेक्सिया, *जर्नल ऑफ़ लर्निंग डिसेबिलिटीज* 24-6. पृ. 379-83.
- फेलिक्स, पॉल, 1998, लर्निंग टू रीड इंग्लिश : द मिक्सड कोड वे- विवियन बैरी और आर्थ मेकनील (संपादक) द्वारा *पॉलिसी एंड प्रैक्टिस इन लैंग्वेज एजुकेशन*, हांगकांग, डिपार्टमेंट ऑफ़ कूरिकुलम स्टडीज, यूनिवर्सिटी ऑफ़ हांगकांग. पृ. 175-193.
- मैथ्यू, रामा, 1997, *फाइनल रिपोर्ट (ए समरी)— सी.बी.एस.ई.-ई.एल.टी. कूरिकुलम इंप्लीमेंटेशन स्टडी*, सी.आई.ई.एफ. एल., हैदराबाद, डिपार्टमेंट ऑफ़ इवेल्युएशन.
- रदरफोर्ड, विलियम ई. 1987, *सेकंड लैंग्वेज ग्रामर लर्निंग एंड टीचिंग*, लंदन; न्यूयॉर्क, लांगमेन.
- रिपोर्ट ऑफ़ द वन-मेन कमिटी ऑन इंग्लिश इन प्राइमरी एजुकेशन*, 1998, पबित्रा सरकार, गर्वमेंट ऑफ़ वेस्ट बंगाल द्वारा लिखित, अध्याय पाँच, 'द अरलियर, द बेटर' ए नेड्जी स्पेस, पृ. 22-28.
- वेस्ट, माइकल, 1941, *लर्निंग टू रीड ए फॉरेन लैंग्वेज*, लॉगमेंस यू.के. (लर्निंग टू रीड ए फॉरेन लैंग्वेज, एंड अदर एसज ऑन लैंग्वेज टीचिंग. (नया संस्करण) लंदन, न्यूयॉर्क, लॉगमेंस, ग्रीन 1955.
- विडॉसन, एच. जी. 1978, *टीचिंग लैंग्वेज एज क्युनिकेशन*, ऑक्सफोर्ड, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- साहू, संध्या, 2005, ई.एल.टी. से *मेटेरियल्स एंड मैथड्स देट वर्क*, मैसर्स, एन.एफ.जी., इंग्लिश.
- सक्सेना, आर. पी. 2005, *लैंग्वेज एंड कल्चर*, मैसर्स, एन.एफ.जी.-इंग्लिश.
- स्मिट, नॉरबर्ट एंड माइकेल मेकार्थी (संपादक) 1997, *वॉक्युबलरी— डिस्क्रिप्शन, एक्वीजिशन एंड पेडागॉजी*, कैंब्रिज, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
- स्मिट, नॉरबर्ट, 2000, *वॉक्युबलरी इन लैंग्वेज टीचिंग*. कैंब्रिज, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
- स्नो, कैथरीन ई., एच. केनसीना, जे. डी. टेंपल, और एस. सहले. 1991, गिविंग फॉर्मल डेफिनिशंस— ए लिंग्वाएस्टिक ऑर मेटालिंग्वाएस्टिक स्कील? एलेन बालिस्टॉक (संपादक) में, *लैंग्वेज प्रोसेसिंग इन बाइलिंगुअल चिल्ड्रेन*. कैंब्रिज, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 90-112.
- स्नो, कैथरीन ई., एम. सूसेन बनर्स, और पेग ग्रीफिन (संपादकगण) 1998, *प्रिवेंटिंग रीडिंग डिफिकल्टीज इन यंग चिल्ड्रेन*, कमिटी ऑन द प्रिवेंशन ऑफ़ रीडिंग डिफिकल्टीज इन यंग चिल्ड्रेन, कमिशन ऑन द बिहेवीयरल एंड सोशल साइसेस एंड एजुकेशन, नेशनल रिसर्च काउंसिल, वॉशिंगटन डीसी, नेशनल एकेडमी प्रेस.
- स्टेनॉविच, कीथ ई. 2000, *प्रोग्रेस इन अंडरस्टैंडिंग रीडिंग—साइंटिफिक फाउंडेशंस एंड न्यू फ्रंटियर्स*, न्यूयॉर्क, गिलफोर्ड प्रेस.

सुनवानी, विजय कुमार, 2005, *द इंग्लिश लैंग्वेज एंड इंडियन कल्चर*, मैसर्स., एन.एफ.जी., इंग्लिश.
 शामला, एस.के. 2005, *नेशनल करिकुलम फ्रेमवर्क फॉर स्कूल एजुकेशन*, मैसर्स, एन.एफ.जी., इंग्लिश.
 हडलसन, सराह, 1994, *लिटरेसी डेवलपमेंट ऑफ सैकंड लैंग्वेज चिल्ड्रेन*. इन फ्रेड जेनेसी (संपादक) *एजुकेटिंग सैकंड लैंग्वेज चिल्ड्रेन, द होल चाइल्ड, द होल कूरिकुलम, द होल कम्युनिटी*, पृ. 129-158 कैब्रिज, कैब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.

शब्दकोश/संदर्भ सामग्री

अमृतावल्ली, आर. 1999, डिक्शनरीज आर अनप्रेडिक्टेबल, *इंग्लिश लैंग्वेज टीचिंग जर्नल* 53-4. पृ. 262-69.
 अमृतावल्ली, आर., ए. जाना, और विजया, 2003, *स्टूडेंट्स अंडरस्टैंडिंग ऑफ डिक्शनरी इंट्रीज— ए स्टडी विद रिस्पेक्ट टु फोर लर्नर्स डिक्शनरीज इंडियन जर्नल ऑफ एप्लाइड लिंग्वाएस्टीक्स* 29 : 1, पृ. 5-20.
 दास, बिक्रम के. 2004, *वर्ड मास्टर— लर्नर्स डिक्शनरी ऑफ मॉडर्न इंग्लिश*, हैदराबाद— ऑरिएंट लांगमैन.
 फिशर, उटे, 1994, *लर्निंग वर्ड्स फ्रॉम कंटेक्स्टर एंड डिक्शनरज— एन एक्सपेरिमेंटल कंपरीजन, एप्लाइड साइकोलिंग्वाइस्टिक्स* 15 : 4, पृ. 551-74.

डायस्लेक्सिया संबंधी सामग्री

थॉमसन, एम.ई. और ई.जे. वॉटकिंस, 1993, *डायस्लेक्सिया— ए टीचिंग हैंडबुक*, लंदन, हर् पब्लिशर्स.
 माइल्स, टी.आर. 1995, *डायस्लेक्सिया—द करंट स्टेट्स ऑफ द टर्म, II, चाइल्ड लैंग्वेज टीचिंग एंड थेरेपी* 2 : 1, पृ. 23-33.
 वेल्यूटिनो, फ्रैंक, आर. 1979, *डायस्लेक्सिया— थ्योरी एंड रिसर्च*, कैब्रिज, मास., एम.आई.टी. प्रेस.

सामग्री-समृद्ध प्रणाली

अमृतावल्ली, आर. 1995, *मीडिया एंड लैंग्वेज एक्वीजिशन*, आर. के. अग्निहोत्री और ए. एल. खन्ना (संपादकगण), *इंग्लिश लैंग्वेज टीचिंग इन इंडिया— इशूज एंड इनोवेशंस*, पृ. 181-86, नयी दिल्ली, सेज.
 क्रशेन, स्टीफेन, 1989, *वी एक्वायर वॉक्युबलरी एंड स्पेलिंग बाई रीडिंग— एडिशनल एविडेंस फॉर द इनपुट हॉयपोथिसिस, मॉडर्न लैंग्वेज जर्नल*, 73 : 4, पृ. 440-64.
 क्रशेन, स्टीफेन, 1983, *द डिन इन द हेड— इनपुट एंड द लैंग्वेज एक्वीजिशन डिवाइस, जॉन डब्ल्यू. ऑलर, जू. और पेट्रीसिया ए. रिचर्ड-अमेतो (संपादकगण), मेथड्स दैट वर्क— ए स्मॉरगेस्वॉर्ड ऑफ आइडियाज फॉर लैंग्वेज टीचर्स*, पृ. 295-301, रॉली, मास— न्यूबरी हाउस पब्लिशर्स.
 टर्ल, ट्रेसी डी, 1983, *द नेचुरल एप्रॉच टु लैंग्वेज टीचिंग— एन अपडेट, जॉन डब्ल्यू. ऑलर, जू. और पेट्रीसिया ए. रिचर्ड-अमेतो (संपादकगण), मेथड्स दैट वर्क— ए स्मॉरगेस्वॉर्ड ऑफ आइडियाज फॉर लैंग्वेज टीचर्स*, पृ. 267-283, रॉली, मास.— न्यूबरी हाउस पब्लिशर्स.
 न्यूमार्क, लिओनार्ड, 1983, *हाउ नॉट टू इंटरफेयर विद लैंग्वेज लर्निंग, जॉन डब्ल्यू. ओलर, जू. और पेट्रीसिया ए. रिचर्ड-अमेतो (संपादक), मेथड्स दैट वर्क— ए स्मॉरगेस्वॉर्ड ऑफ आइडियाज फॉर लैंग्वेज टीचर्स*, पृ. 49-55, रॉली, मास.—न्यूबरी हाउस पब्लिशर्स, (रिप्रिंटेड फ्रॉम इंटरनेशनल जर्नल ऑफ अमेरिकन लिंग्वाएस्टीक, 32-1.2. 1966).
 प्रभु, एन. एस. 1987, *सैकंड लैंग्वेज पेडागॉजी ऑक्सफोर्ड*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
 — 1998, *टीचिंग इज़ एट मोस्ट होपिंग फॉर द बेस्ट*, पेपर डेलिवर्ड एट द रीजनल इंग्लिश लैंग्वेज सेंटर सेमिनार, साउथ इस्ट एशियन मिनिस्ट्रीज ऑफ एजुकेशन ऑर्गनाइज़ेशन, सिंगापुर.

मेकनामरा, जॉन, 1983, नर्सरीज, स्ट्रीट्स, एंड क्लासरूम्स— सम कंपेरिजन्स एंड डिडक्शंस, इन जॉन डब्ल्यू. ऑलर, जू. और पेट्रीसिया ए. रिचर्ड-अमेतो (संपादकगण) *मेथड्स देट वर्क : ए स्मॉरगेस्बोर्ड ऑफ आइडियाज फॉर लैंग्वेज टीचर्स*, पृ. 259-266, रॉली, मास— न्यूबरी हाउस पब्लिशर्स.

प्रामाणिक सामग्री

स्ट्रीवेंस, पीटर, 1987, इंटरएक्शन आउटसाइड द क्लासरूम— यूज़िंग द कम्युनिटी. विल्गा एम. रिवर्स (संपादक), 1987, *इंटरएक्टिव लैंग्वेज टीचिंग*, पृ. 170-176, न्यूयॉर्क— केंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.

माले, एलेन, 1987, पॉइंट्री एंड सांग एज़ इफेक्टिव लैंग्वेज लर्निंग एक्टिविटीज़, विल्गा एम. रिवर्स (संपादक) में 1987, *इंटरएक्टिव लैंग्वेज टीचिंग*, पृ. 93-109, न्यूयॉर्क— केंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.

कक्षा-कक्ष सामग्री

रमन, उषा, 2003, *ए पॉट ऑफ लाइट*, बिग बुक्स, हैदराबाद, स्पार्क इंडिया.

राव, लक्ष्मी रामेश्वर, 2005, *स्पार्क जियोग्राफी*, हैदराबाद, स्पार्क इंडिया.

— 2003, *स्पार्क जूनियर जियोग्राफी*, हैदराबाद, स्पार्क इंडिया.

शील, 2003, *अंडर द बेड*, बिग बुक्स, हैदराबाद— स्पार्क इंडिया.

संदर्भ पुस्तकें

टिक्कू, एम. एल. 2004, *ई.एल.टी. इन इंडिया*, नयी दिल्ली, ऑरिएंट लांगमेन.

होव, माइकल जे. ए. 1984, *ए टीचर्स गाइड टु द साइकोलॉजी ऑफ लर्निंग*, ऑक्सफोर्ड, इंग्लैंड; न्यू यार्क, एन.वाई.बी. ब्लेकवेल.

सिनेमा का शैक्षिक संदर्भ

विनोद अनुपम*

इसमें कोई संदेह नहीं कि आज सिनेमा के बढ़ते वर्चस्व ने हमारे जीवन में विविध पहलुओं पर गहरा प्रभाव छोड़ा है। सिनेमा को बनाने वाले तो सृजन का आनन्द लेते हैं परन्तु देखने वाले की कल्पनाशक्ति को आघात पहुँचता है, और बेहतर की सोच कुन्द सी हो जाती है। इसका सबसे ज्यादा प्रभाव बच्चों पर पड़ता है। क्या इसके लिए बच्चों को सिनेमा दिखाना बन्द किया जाए? क्या कोई और तरीका भी हो सकता है जिससे सिनेमा का बुद्धिमतापूर्ण उपयोग हो सके। सिनेमा से संबंधित इसी तरह के कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर चर्चा करना आज के समय में आवश्यक माना जा रहा है। प्रस्तुत लेख इसी विषय पर एक गहन चिंतन प्रस्तुत करता है।

1926 में महात्मा गाँधी ने 'यंग इण्डिया' में सिनेमा की आलोचना करते हुए लिखा था— "इसका बुरा प्रभाव प्रतिदिन जबर्दस्ती मेरे ऊपर पड़ता है।" 1935 में प्रेमचंद 'हंस' में लिखते हैं— "सिनेमा अगर हमारे जीवन को स्वस्थ आनंद नहीं दे पाता है, हममें निर्लज्जता और धूर्तता और कुरुचि को बढ़ाता है, और पशुता की ओर ले जाता है, तो जितनी जल्दी उसका निशान मिट जाए, उतना अच्छा।" वृंदावन लाल वर्मा ने भी कभी लिखा था, सिनेमा को काली मैया उठा ले जाएँ। वास्तव में यदि कोसने से ही बुराइयों का अंत होना होता तो अब तक हम लोग रामराज्य में

रह रहे होते। किसी भी बुराई की उपेक्षा कर उसे समाप्त नहीं किया जा सकता। समाप्त करने के लिए कोशिश करनी पड़ती है। 1965 में वृंदावन लाल वर्मा ने भी इसे महसूस करते हुए लिखा था, 'फिल्म का प्रभाव दर्शक-श्रोता पर बहुत शीघ्र और गहरा पड़ता है। गन्दी फिल्मों की बहुतायत है, जो समाज को पतन की ओर ले जा रही है। अपनी संस्तुति की रक्षा और देश के ऊँचे आदर्शों को बचाने, ऊपर लाने की बड़ी आवश्यकता है। लेकिन चिंता की बात है कि क्या इतने प्रभावशाली माध्यम के नकारात्मक प्रभाव को सकारात्मक बनाने के लिए कोई सक्रिय प्रयास

*बी-53, सचिवालय कॉलोनी, कंकड़बाग, पटना-20, बिहार.

किए गए? सिनेमा संस्तुति के लिए यह किसी विडंबना से कम नहीं कि लगभग 40 वर्षों बाद भी वर्मा जी के सवाल प्रासंगिक हैं।

1896 में यूरोप में लुमियर बंधुओं द्वारा किए गए सिनेमा के प्रथम प्रदर्शन के कुछेक महीनों बाद ही सिनेमा भारत में भी देखा जा सका था। 1897 में यहाँ प्रायोगिक स्तर पर फिल्म बनाने की शुरुआत भी हो गई थी। 1913 में दादा साहब फालके ने यहाँ अपनी फीचर फिल्म 'राजा हरिश्चन्द्र' पूरी की और आज लगभग 800 फिल्मों प्रति वर्ष निर्मित कर हम दुनियाभर में शीर्ष पर हैं। तमाम नाराजगियों, उपेक्षाओं, अवहेलनाओं के बावजूद भारत में सिनेमा का इस स्थिति तक पहुँच पाना निश्चय ही इस माध्यम की ताकत का अहसास कराने के लिए काफी है।

सिनेमा की ताकत का सबसे बड़ा कारण सिर्फ यही नहीं है कि हम चीजों को, घटनाओं को वैसे ही देखते हैं, जैसा वह है या हुआ है। बल्कि मानसिक रूप से हम भी घटनाओं के अन्दर होते हैं। वास्तव में किसी भी दृश्य के केंद्र में दर्शकों के आँख और कान के साथ दिमाग की भी सहभागिता जरूरी होती है। सिनेमा की यह विशेषता है कि यह जितनी सामने दिखती है, उतनी ही हमारे दिमाग में भी बनती है। किसी कलाकार को पहाड़ की चढ़ाई पार करते हुए देखते हैं। पहाड़ चढ़ते आँखों से देखते हैं, कानों से उसके पैरों की आवाज, कीलें गाड़ने की आवाज, आसपास के वातावरण जंगल-झरने वगैरह की ध्वनि भी सुनते हैं। सारा कुछ वास्तविक, लेकिन वास्तविक समय का सिर्फ हमें अहसास कराया जाता है। सात दिन के वास्तविक समय में पूरी होने वाली चढ़ाई को

सिर्फ सात शॉटों में सात मिनट से भी कम में दिखा दिया जाता है। बाकी की कमी हमारा दिमाग पूरी करता है। वास्तव में कलाकार को पहाड़ी चढ़ते सिर्फ हम देखते ही नहीं, उसके साथ होते हैं, मानसिक तौर पर। आश्चर्य नहीं कि लुई बुनेवेल ने माना था सिनेमा हमारे दिमाग पर अफीम-सा असर करता है।

जे. पी. दत्ता की 'एलओसी-कारगिल' वैचारिक स्तर पर बहुत परिपक्व नहीं रहते हुए भी तकनीकी कुशलता के लिए देखी जानी चाहिए। फिल्म में हमेशा ही दर्शक सबसे उचित जगह पर होता है, जहाँ से पूरे दृश्य में उसकी भागीदारी हो सके, अधिक से अधिक वह देख सके, अधिक से अधिक वह सुन सके। एक ओर कारगिल की विकट परिस्थितियों को दिखाने के लिए एरियल शॉट का इस्तेमाल किया जाता है तो दूसरी ओर सैनिकों के पीछे कैमरा हाथ में लेकर भी दौड़ा जाता है ताकि अनगढ़ पहाड़ियों का 'जर्क' दर्शक भी महसूस कर सकें। कैमरे की कुशलता इसी से आँकी जाती है कि किस हद तक वह दर्शक की आँख बन सका है।

मानसिक रूप से अपने आप को दृश्य के अंदर महसूस करवा लेने की क्षमता ही है जो सिनेमा को इस कदर संप्रेष्य बनाती है कि करोड़ों लोग बिना किसी फिल्मी भाषा और तकनीक की समझ के टिकट खरीदते हैं, फिल्म देखते हैं और अपनी जरूरत के अनुसार उसे समझते-स्वीकार करते हैं। साहित्य या कला को यह सुविधा उपलब्ध नहीं है, साहित्य या कला का रसास्वादन हम तब तक नहीं कर सकते जब तक कि उसके व्याकरण की मोटी समझ भी न हो। सिनेमा ने

अपने लिए ऐसी स्वाभाविक भाषा का चुनाव किया है जो सामान्य मनुष्य की मात्र आभासी क्षमता के सिद्धांत पर आधारित होती है।

वास्तव में भारतीय संस्कृति में जब सिनेमा को नाजुक मन बच्चों और किशोरों के लिए त्याज्य माना जाता था तो उसकी वजह सिर्फ यह नहीं कि उस समय तथाकथित 'गन्दी फिल्मों' की बहुतायत थी, उसकी सही वजह तत्कालीन भारतीय समाज की यह प्रौढ़ और वाजिब समझ थी कि सिनेमा कहीं न कहीं हमारे सोचने समझने और कल्पना की क्षमता को क्षीण करती है। उन्हें आभास था कि 'क्रिस' की उड़ान बच्चों के मस्तिष्क को इस कदर कुंद बना सकता है कि वे अंधानुकरण में छत से छलाँग लगा सकते हैं जबकि उनका 'स्वतंत्र' मस्तिष्क 'क्रिस' से भी ज्यादा ऊँची उड़ान भर सकता है। वास्तव में हमारे मन में कोई कल्पना आकार लेती है तो हम उस कल्पना को साकार करने की कोशिश के पूर्व उसे तर्क पर कसते हैं, जबकि सामने साकार दिखते 'सत्य' को देख हमें तर्क करने की जरूरत ही महसूस नहीं होती।

जब हम रामायण पढ़ते हैं तो हरेक व्यक्ति के मन में राम की तस्वीर अलग बनती है। अपने-अपने तर्क के अनुसार एक समुचित 'राम' को वे गढ़ते हैं। आश्चर्य नहीं कि भारत में रामलीला के कुछ और रूप होते हैं जबकि इंडोनेशिया में कुछ और। लेकिन सिनेमा यह सुविधा नहीं देती। जितने ही जड़ मस्तिष्क के साथ हम उसे देखें उसे सहूलियत होती है। उसकी सफलता इसी में है कि हम अपनी कल्पना की उड़ान को प्रतिबंधित कर अपनी

समझ को उसकी समझ के आगे समर्पित कर दें। शायद इसी लिए सिनेमा अपनी विशेषता के रूप में इसे स्वीकार भी करती है। सुभाष घई, डेविड धवन जैसे लोकप्रिय फिल्मकार तो स्पष्ट कहते भी हैं, कि मेरी फिल्मों का आनन्द लेना हो तो दिमाग छोड़ कर देखें। एक नवोदित (बाल या किशोर) मस्तिष्क के लिए जहां हर पल नए आमद की गुंजाइश बनी रहती है, उसे यह जड़ता कितनी प्रभावित कर सकती है। इस पर एक गहन अध्ययन की जरूरत है।

हममें से कितने लोग होंगे, जिन्होंने सिनेमा देखने के लिए कभी न कभी डाँट न सुनी हो, तमाम विरोधों के बावजूद यह स्वीकार करने में कतई एतराज नहीं हो सकता कि सिनेमा आम जन के मनोरंजन का सबसे सशक्त और प्रभावशाली माध्यम है। भारत में ही नहीं, दुनियाभर में—पाकिस्तान, ईरान, श्रीलंका से लेकर इंग्लैंड, अमेरिका, जापान तक। मॉरक्वेज को अपनी क्रांतिकारी विचार धारा के प्रसार के लिए भी सिनेमा विधा आकर्षित करती है, तो डेविड धवन को अपनी मूर्खताओं से दर्शकों को खुश कर पैसे ऐंठने के लिए भी सिनेमा ही चाहिए, स्थिति आज यहाँ तक पहुँच चुकी है कि सिनेमा हमारे घर के अंदर प्रवेश कर चुका है। हम इसे देखें या नहीं, यह भी अब हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं करता है। न्यूज चैनल पर भी सिनेमा के लिए अलग स्लॉट है, मनोरंजन चैनल पर भी और खास तौर से सिनेमा के लिए तो दर्जनों चैनल हैं ही। क्या बालू में सर गाड़कर तूफान को रोका जा सकता है?

आज टेलीविजन के विस्तार ने पूरे भारत को आच्छादित कर रखा है। मुंबई के बांद्रा से लेकर

बस्तर की बस्तियों तक दुनियाँ को उँगलियों के इशारे पर नचाने वाली डिश एन्टीना की छतरी देखी जा सकती है। टेलीविजन के साथ भी सिनेमा की संस्कृति हम तक पहुँच रही है। सिनेमा की संस्कृति अब सिर्फ कपड़े के फैशन और बालों के स्टाइल को प्रभावित नहीं कर रही है बल्कि अब इसने सामाजिक मूल्यों को भी प्रभावित करने की ताकत हासिल कर ली है। सामाजिक समस्याओं को सिनेमा ने अपने लगातार प्रभाव से इतना तरल बना दिया है कि हिंसा, अपराध, व्यभिचार, बलात्कार अब कुछ भी हमें बेचैन नहीं कर पाता।

सिनेमा के इस प्रभाव को समझते हुए पश्चिमी देशों में 50 के दशक से ही फिल्म अध्ययन पर गंभीरता से विचार करना शुरू कर दिया था। शिक्षाशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों के लिए वहाँ पर चिंता का विषय था कि बच्चे जितना समय स्कूल में व्यतीत करते हैं उससे कहीं अधिक टेलीविजन के सामने। अपने अध्ययन में उन्होंने पाया कि दो वर्ष की उम्र से ही जब बच्चे मातृभाषा सीखने की शुरुआत करते हैं टेलीविजन और फिल्म जैसे दृश्य-श्रव्य माध्यमों से भी संदेश ग्रहण की शुरुआत कर देते हैं। दो तीन साल के बच्चे का कार्टून नेटवर्क के आगे शांत पड़े रहना कोई संयोग नहीं, बल्कि हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि बकायदा उसे देख रहा होता है, महसूस कर रहा होता है।

सिनेमा आज हमारी जीवन शैली में शामिल हो चुका है। खाना खाना, ऑफिस जाना, स्कूल जाने की तरह सिनेमा को भी हमने अपनी अनिवार्यता में शामिल कर लिया है। हमें याद है कॉलेज जाने के बाद भी फिल्म पत्रिकाएँ हमने

अभिभावकों से छिपकर पढ़ी थीं। फिल्म देखने की बकायदा अभिभावकों से इजाजत ली जाती थी, वह भी दो-चार महीने में एक बार। यह इजाजत भी 'जय हनुमान' या 'हिन्दुस्तान की कसम' देखने के लिए ही मिलती थी। आज आश्चर्य है कि फिल्म देखना कोई विषय ही नहीं रहा भारतीय समाज के लिए। यहाँ तक कि वयस्क प्रमाण-पत्र वाली भी फिल्में देखने के लिए बच्चों को ले जाते हुए हमें छोटी-सी हिचक भी नहीं होती। फिल्म देखते हुए बच्चे 'कमीने' का मतलब पूछते हैं और हम मुस्कराते हैं।

तथाकथित आधुनिक होते भारतीय समाज की यह विडम्बना ही है कि यह निरन्तर सिमटता जा रहा है। वास्तविक परिवार और समाज से होती दूरी को 'वर्चुअल' समाज से पाटने की उसके पास मजबूरी होती है। क्योंकि समाज तो चाहिए ही। इस चाहिए के लिए विकल्प उसे सिनेमा में मिला। इस 'वर्चुअल' समाज की खासियत थी, यह उसकी माँग पर उपलब्ध था। जब भी अकेलापन महसूस हो, चलो सिनेमा। एक सुखद भरे-पूरे वातावरण से संतुष्ट लौटकर फिर लग गए अकेले अपने रोज के जद्दोजहद में। शायद इसी लिए सिनेमा देखना जो पहले साल-छः महीने का उत्सव होता था, अब हफ्ते का शगल बन गया। यह भी गौरतलब है कि गाँव, कस्बा, शहर, नगर, महानगर जैसे-जैसे पारिवारिक ईकाइयाँ छोटी होती गई इस शगल की सघनता भी बढ़ती गई। यह भी उल्लेखनीय है कि इस शगल ने सबसे ज्यादा बच्चों को प्रभावित किया, क्योंकि एकल परिवारों में सबसे अकेले वही थे। आश्चर्य नहीं कि एकल परिवारों के

सिनेमा देखने का निर्णय धीरे-धीरे बच्चों के हाथों में सिमटता चला गया। उन्हें मतलब सिनेमा से नहीं, बस सिनेमा घर के मेले और सिनेमा के पर्दे पर सुलभ 'वर्चुअल' दुनिया से थी। और अभिभावकों के लिए उन्हें सिनेमा ले जाना वास्तव में कहीं न कहीं उन्हें अपने भरे-पूरे समाज से काटने की एक क्षतिपूर्ति थी। लेकिन यह 'क्षतिपूर्ति' वास्तव में किस तरह उनकी समझ को अपनी दुनिया के प्रति जड़ बना रही थी, हमने इस पर गौर करने की जरूरत नहीं समझी।

आज इस स्थिति में जब सिनेमा के प्रवाह को रोका नहीं जा सकता, क्या बेहतर यह नहीं कि लोगों को सिनेमा देखने से रोकने के बजाए उसे सिनेमा देखना सिखाएँ। सिखाने का अर्थ है बकायदा फिल्म अध्ययन आखिरकार अध्ययन का उद्देश्य क्या है! कोई भी विषय साहित्य हो, विज्ञान हो, कला हो या तकनीक हो हम क्यों पढ़ते हैं! वास्तव में विधिवत अध्ययन का उद्देश्य दिमाग को ऐसे साधन से लैस किया जाना है कि वे ज्ञान की गूढ़ दुनिया को समझ सकें। क्योंकि किसी भी विषय को एक व्यक्ति अपनी सामान्य समझ से एक सीमा तक ही समझ सकता है। सिनेमा तो कला की सबसे 'कॉम्प्लेक्स' विधा है, इसमें साहित्य भी है, कला भी, विज्ञान भी, तकनीक भी। सिनेमा पर हरेक दृष्टिकोण से विचार करने की, अध्ययन की जरूरत है। एक कला माध्यम के रूप में, संप्रेषण के एक सशक्त दृश्य-श्रव्य माध्यम के रूप में, एक लोकप्रिय जन मनोरंजन के रूप में, सूचनाएँ और सामाजिक मूल्यबोध को संचारित करने वाले साधन के रूप में, सांस्कृतिक वातावरण का निर्माण करने वाले

एक अभिकरण के रूप में हरेक परिप्रेक्ष्य सिनेमा पर विस्तार से विचार करने की अपेक्षा रखता है। और वह अपेक्षा एक विधिवत नियमित अध्ययन से ही पूरी हो सकती है। फिल्म अध्ययन सिर्फ फिल्म की ही नहीं पूरे सांस्कृतिक वातावरण को समझने में सहायक हो सकता है।

1980 में नेशनल फिल्म पॉलिसी कमिटी द्वारा फिल्म अध्ययन को राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली में आठवीं कक्षा से अनौपचारिक शिक्षा में और कॉलेज-विश्वविद्यालय स्तर पर औपचारिक शिक्षा में शामिल करने की अनुशंसा की गई थी। भारत सरकार ने अनुशंसा को स्वीकार करते हुए यू.जी. सी. और एन.सी.ई.आर.टी. को फिल्म अध्ययन की दिशा में आवश्यक कदम उठाने के निर्देश भी उसी समय जारी किए थे। लेकिन आज भी दूरदर्शन के यू.जी.सी. कार्यक्रमों में 'अंडरस्टैंडिंग सिनेमा' की एक सीरीज प्रसारित करने और यादवपुर जैसे कुछेक विश्वविद्यालयों में शोध और स्नातकोत्तर स्तर पर एक विषय के रूप में स्वीकार कर लेने के बावजूद फिल्म अध्ययन पहले की तरह अस्पृश्य बना हुआ है।

आज एक ओर अपनी ही संस्कृति को हाशिए पर डाल रखने की ही नहीं, घृणा करने की राजनीति का दबाव, दूसरी ओर संस्कृति को 'यूनिफार्म' बनाने का दबाव और तीसरी तरफ वैश्विक संस्कृति को बढ़ावा देने की कोशिश। कुल मिलाकर समय सचेत होने का है। यदि अभी भी सिनेमा पर हमने अपना 'नियंत्रण' नहीं कायम किया तो फिर आगे कितना भी विलाप करें निष्कर्ष हाथ नहीं आ सकता। इसके लिए सबसे पहले एक बार फिर से नेशनल फिल्म

पॉलिसी 1980 को याद करने की जरूरत है ताकि सिनेमा के प्रति बचपन से ही एक सही समझ विकसित हो सके। यह एक दिन की कोशिशों से नहीं हो सकता, लगातार विधिवत अध्ययन से ही बच्चों में सही और गलत सिनेमा की समझ को विकसित की जा सकती है। बच्चों को महान फिल्मकारों की क्लासिक फिल्में दिखाने की गंभीर कोशिश शुरु की जानी चाहिए, ताकि वे

डेविड धवन और विमल रॉय का फर्क महसूस कर सकें।

साहित्य के साथ हमने कोशिश की, आज छोटे से बच्चे को भी प्रेमचंद और प्रेम वाजपेयी का फर्क मालूम है। आज की सच्चाई है कि लोगों को सिनेमा देखने से हम रोक नहीं सकते हैं, कोशिश कर सकते हैं कि वे सिनेमा को सिनेमा की तरह ग्रहण करें, एक स्वस्थ आलोचकीय समझ के साथ।

विश्वविद्यालयों में हो रहे शोध कार्यों की गुणवत्ता उन्नयन हेतु प्रयास

मोहम्मद यूनुस हुसैन*
मोहम्मद इरशाद हुसैन**

विश्वविद्यालय का कार्य ज्ञान के वितरण के साथ ही ज्ञान का सृजन करना भी होता है। विश्वविद्यालय में शिक्षण एवं शोध एक दूसरे के पूरक एवं परस्पर सहयोगी क्रियाएँ हैं। भारत में उच्च गुणवत्ता वाले संस्थानों के अभाव के कारण प्रति वर्ष लगभग पाँच लाख भारतीय छात्र विदेशी विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने जाते हैं। इसके साथ ही उपलब्ध भारतीय विश्वविद्यालयों/संस्थानों से डॉक्टरेट की डिग्री लेने वालों की संख्या भी महज तीन लाख ही है। अतः भारत में उच्च शिक्षा एवं शोध के क्षेत्र में श्रेष्ठ संस्थानों को खोलने/संचालित संस्थानों के गुणवत्ता स्तर में वृद्धि करने, विद्यार्थियों में गुणवत्तायुक्त शोध करने एवं गुणवत्ता युक्त शिक्षा प्राप्त/प्रदान करने की क्षमता विकसित करने के लिए विशेष प्रयास की आवश्यकता है।

यदि विश्वविद्यालय ज्ञान का सृजन न कर केवल ज्ञान के वितरण तक ही सीमित हो जाता है तो वह विश्वविद्यालय नहीं वरन विद्यालय कहलाने के लायक है। विश्वविद्यालय का मुख्य कार्य ज्ञान के वितरण के साथ ही ज्ञान के क्षेत्र से बाहर निकलकर अज्ञान के क्षेत्र में जाकर नए ज्ञान की खोज कर जनमानस तक पहुँचाना है। प्रो. यशपाल के अनुसार, जो ज्ञान के महासागर में डुबकी

लगाना सिखाए, वही विश्वविद्यालय है। हमारे आसपास जो कुछ भी घटित हो रहा है उस सबकी पढ़ाई, विश्वविद्यालय में होनी चाहिए। विभिन्न विषयों के बीच बहुत झीनी दीवार होती है अतः शोध के स्तर पर एक विषय से दूसरे विषय में जाने की छूट मिलनी चाहिए। विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों को चाहिए कि वह अपने विषय की विशेषज्ञता को बचाए रखते हुए विभिन्न विषयों में

*वरिष्ठ अध्यापक, प्राथमिक विद्यालय, भोजपुर रामनाथ, भूटा, बरेली, उत्तर प्रदेश.

**वरिष्ठ अध्यापक, प्राथमिक विद्यालय, फतेहपुर, भूटा, बरेली, उत्तर प्रदेश.

जाकर ज्ञान का विकास करते रहें। प्रो. डी. एस. कोठारी के अनुसार विश्वविद्यालय की श्रेष्ठता उसके शिक्षकों की श्रेष्ठता पर निर्भर होती है। विश्वविद्यालय में शिक्षण एवं शोध एक दूसरे के पूरक एवं परस्पर सहयोगी क्रियाएँ हैं। विश्व के उत्तम विश्वविद्यालयों की पहचान उनके यहाँ हो रहे शोधों का स्तर होता है। 'भारत विज्ञान रिपोर्ट' के अनुसार एक अरब से अधिक आबादी वाले भारत में डॉक्टरों की संख्या महज तीन लाख है, जिसमें विज्ञान के डाक्टरों की संख्या मात्र एक लाख है। यदि हमें विश्व में शिक्षा के क्षेत्र में अपनी पहचान बनानी है तो यह सुनिश्चित करना होगा कि हमारे विद्यार्थी गुणवत्ता युक्त शोध करने एवं गुणवत्ता युक्त शिक्षा प्राप्त एवं प्रदान करने की क्षमता स्वयं में विकसित करें। ऐसा करने के लिए हमारे शिक्षकों को आधुनिकतम और कठिनतम विषयों को सरल, सरस, सुबोध बनाकर छात्रों तक पहुँचाने का प्रयास करना होगा। भारतीय उद्योग संगठन 'एसोचैम' की रिपोर्ट के अनुसार अमेरिका, आस्ट्रेलिया, इंग्लैंड, कनाडा, जर्मनी आदि देशों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए साढ़े चार लाख से भी अधिक भारतीय छात्र प्रतिवर्ष जाते हैं। इसका मुख्य कारण भारत में पर्याप्त संख्या में उच्च गुणवत्ता वाले संस्थानों का अभाव होना है। अतः भारत में उच्च शिक्षा एवं शोध के क्षेत्र में श्रेष्ठ संस्थानों को खोलने एवं अपनी मौलिक खोजों को वैश्विक बनाने के लिए हमें मिलकर पहल करनी होगी।

प्रवेश प्रक्रिया

प्रायः विश्वविद्यालय के पीएच.डी. कार्यक्रम में प्रवेश शोधकर्ता एवं शोध पर्यवेक्षक की आपसी

सहमति पर निर्भर होता है। शोध कार्य की गुणवत्ता बढ़ाने एवं पीएच.डी. कार्यक्रम में व्याप्त भ्रष्टाचार को कम करने का यह प्रथम एवं सबसे महत्वपूर्ण स्तर है। इसके लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (एम.फिल./पीएच.डी. उपाधि के लिए न्यूनतम मानक एवं प्रक्रिया) विनियम, 2009 में, एम.फिल. एवं पीएच.डी. पाठ्यक्रम में प्रवेश हेतु विश्वविद्यालय द्वारा प्रवेश परीक्षा कराने का प्रावधान किया गया है, जो कि एक स्वागत योग्य कदम है परन्तु अन्य पाठ्यक्रमों हेतु आयोजित प्रवेश परीक्षाओं की भाँति इसमें भी शिक्षा मफियाओं द्वारा धाँधली करने की पूरी संभावना रहेगी। अतः विश्वविद्यालयों को पीएच.डी. पाठ्यक्रम में प्रवेश हेतु प्रवेश परीक्षा के साथ-साथ शैक्षणिक अभिलेख एवं साक्षात्कार को भी आधार बनाना चाहिए। प्रवेश परीक्षा को 40% अधिभार दिया जाए जिसमें शोध अधिक्षमता, विषय, भाषा (हिन्दी/अंग्रेजी) एवं कम्प्यूटर संबंधी प्रश्न सम्मिलित हों। इसके अतिरिक्त 40% अधिभार प्रवेशार्थी द्वारा परास्नातक पर प्राप्त अंकों को दिया जाना चाहिए, तदोपरान्त संयुक्त अधिभार 80% के आधार पर चयनित अभ्यर्थियों की प्रथम सूची जारी कर उनका साक्षात्कार कराया जाए, जिसे 20% अधिभार दिया जाए। अन्त में प्रवेश परीक्षा, शैक्षणिक अभिलेख एवं साक्षात्कार पर प्राप्त अंकों के संयुक्त अधिभार के आधार पर विश्वविद्यालय एवं संबद्ध महाविद्यालय में कार्यरत संबंधित विषय के शिक्षकों के माँगपत्र के सापेक्ष अन्तिम चयनित शोधार्थियों की सूची जारी की जाए। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (शोध) विनियम, 2009 के अनुसार चयनित शोध छात्रों के लिए निरीक्षकों का विनियोजन

औपचारिक तरीके से विभागों द्वारा निर्धारित किया जाएगा। व्यक्तिगत छात्र एवं शिक्षक पर निरीक्षक का आवंटन नहीं छोड़ा जाएगा। यह नियम तर्क संगत नहीं लगता क्योंकि पीएच.डी. कार्यक्रम लम्बी अवधि का होता है, जिसमें शोधकर्ता एवं शोध पर्यवेक्षक का बारम्बार विचार-विमर्श होता है। अच्छे वार्तालाप के लिए दोनों के व्यक्तित्व लर्निंग एवं टीचींग स्टाइल में कुछ समानता आवश्यक है। अतः शोध छात्र एवं शोध पर्यवेक्षक को भी एक दूसरे को चुनने के लिए न्यूनतम आवश्यक स्वतंत्रता दी जानी चाहिए। इसके लिए विश्वविद्यालय को पीएच.डी. कार्यक्रम हेतु चयनित शोधार्थियों एवं उपलब्ध शोध पर्यवेक्षकों की आपसी सहमति पत्र के आधार पर, निश्चित समय सीमा के भीतर शोधार्थी का पंजीकरण संबंधित पर्यवेक्षक के साथ करना चाहिए। इस कार्य में विश्वविद्यालय द्वारा संबंधित विषय के पर्यवेक्षक, उनकी योग्यता एवं उनके निर्देशन में पूर्ण एवं चल रही पीएच. डी. की जानकारी, शोध छात्रों को उपलब्ध कराने हेतु काउन्सिलिंग कार्यक्रम अपेक्षित हैं। शोधार्थियों का चयन करते समय पर्यवेक्षक को आरक्षण के नियमों का भी पालन करना चाहिए। ऐसा करने से समाज के योग्य एवं समाज के सभी वर्गों के शोधार्थियों को शोध करने का अवसर उपलब्ध हो सकेगा।

शोध प्रक्रिया

शोधार्थियों का पर्यवेक्षक के साथ पंजीकरण होने के उपरान्त, विश्वविद्यालय को शोध छात्रों को शोध प्रक्रिया सिखाने के उद्देश्य से विविध विषयों की रिसर्च मैथडोलॉजी पर छह माह का

सैद्धान्तिक कोर्स कराने की व्यवस्था करनी चाहिए। इसके व्यावहारिक पक्ष को सिखाने हेतु इन छह माह के भीतर ही संबंधित शोध पर्यवेक्षक द्वारा शोध छात्र से किसी एक सामान्य समस्या के निराकरण हेतु शोध-पत्र तैयार कराना चाहिए। ऐसा करने से शोधार्थी अपने विषय की शोध विधि के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष को सीख सकेगा, फलस्वरूप वह पीएच.डी. हेतु चयनित समस्या का अध्ययन गुणवत्तापूर्वक कर सकेगा। प्रायः शोधार्थी पीएच.डी. हेतु समस्या चयन के लिए अपने शोध पर्यवेक्षक पर निर्भर रहता है, जिससे शोध की मौलिकता प्रभावित होती है। अतः शोधार्थी को अपनी एकेडमिक लाइफ में विषय से संबंधित आने वाली समस्याओं पर चिंतन एवं पर्यवेक्षक से विचार-विमर्श के उपरान्त स्वयं ही शोध समस्या का चयन करना चाहिए, जिससे शोध कार्य पूर्ण होने तक शोधार्थी में समस्या के समाधान के प्रति जिज्ञासा बनी रहने के कारण, शोध की गुणवत्ता में पर्याप्त वृद्धि सुनिश्चित की जा सके। शोध समस्या के चयनोपरान्त शोधकर्ता, शोध कार्य प्रारम्भ कर देता है। समस्या से संबंधित साहित्य के गहन अध्ययन हेतु शोधार्थी विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं केंद्रीय संस्थानों के पुस्तकालयों का भ्रमण करता है, जिसके लिए काफी धन की आवश्यकता होती है। अतः विश्वविद्यालय को 'शोध सहायता कोश' की स्थापना कर शोधार्थियों को अपेक्षित छात्रवृत्ति देने की व्यवस्था करनी चाहिए। हालाँकि विभिन्न केंद्रीय महत्व के संस्थानों द्वारा शोध छात्रवृत्ति प्रदान की जा रही है परन्तु जो छात्र यह छात्रवृत्ति पाने से वंचित हैं उन्हें विश्वविद्यालय अपनी ओर से छात्रवृत्ति देकर शोधकार्य में आने

वाली धन संबंधी समस्याओं को कम कर सकता है, जिससे शोध की गुणवत्ता में वृद्धि सुनिश्चित की जा सकती है। वैज्ञानिक विषयों के अनुसंधानों में प्रयोगशाला की भूमिका महत्वपूर्ण होती है अतः अनुसंधान केंद्रों की प्रयोगशालाओं को सभी आवश्यक संसाधनों एवं उपकरणों से सुसज्जित होना आवश्यक है। मानविकी विषयों के अनुसंधानों में अध्ययनरत चरों के मापन हेतु प्रमापीकृत परीक्षण भी विश्वविद्यालय द्वारा अनुसंधान केंद्रों को उपलब्ध कराने हेतु धनापूर्ति करनी चाहिये। चूँकि शोध की गुणवत्ता, शोध के चरों के मापन हेतु प्रयुक्त उपकरणों पर निर्भर करती है अतः शोधकर्ता को मापन उपकरण के चयन में विशेष सावधानी रखनी चाहिए। परीक्षण निर्माण सीखने की दृष्टि से प्रत्येक शोधकर्ता को अपने शोध से संबंधित किसी एक चर के मापन हेतु उपकरण स्वयं बनाना चाहिए तथा शेष चरों के मापन हेतु नवीनतम मानकीकृत उपकरणों का प्रयोग करना चाहिए।

विश्वविद्यालय के विभिन्न विषयों के अनुसंधान केंद्रों पर उच्चस्तरीय कम्प्यूटरीकृत पुस्तकालय की स्थापना की जानी चाहिये जिसमें संबंधित विषय की अधिकतम महत्वपूर्ण पुस्तकें, शोध पत्रिकाएँ, शोध सर्वे, एन्साइक्लोपिडिया, शब्दकोश, शोध ग्रंथ एवं इण्टरनेट आदि की व्यवस्था हो। वैश्वीकरण एवं तकनीकी के इस युग में शोधकर्ता को इण्टरनेट का उपयोग करने में दक्षता हासिल होनी चाहिए क्योंकि बिना इसके उपयोग से वह सूचनाओं के बहुत बड़े नेटवर्क से अनभिज्ञ रह जाता है। पुस्तकालय के खुलने का समय प्रातः 8 से रात्रि 12 तक होना चाहिए जिससे शोध छात्रों को

पुस्तकालय जाने के लिए समय सीमा के बंधन से मुक्ति मिल सके तथा वह अधिकतम समय तक पुस्तकालय का प्रयोग कर सकें। शोध पर्यवेक्षकों की शोध योग्यता को उच्चिकृत करने के उद्देश्य से विश्वविद्यालय को प्रत्येक दो वर्ष के अन्तराल पर कार्यशाला का आयोजन करना चाहिए ताकि शिक्षक स्वयं को समय के अनुकूल अपग्रेड कर सकें। इसके साथ ही विश्वविद्यालय को विभिन्न विषयों के शोध छात्रों को विभिन्न विषयों की प्रकृति एवं शोध विधि का नवीनतम ज्ञान देने के लिए एकीकृत शोध कार्यशाला का वार्षिक आयोजन कराना चाहिए। प्रत्येक शोध छात्र को अपने शोध ग्रंथ से कम से कम दो शोध पत्र अपने शोध कार्य के दौरान, विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित वार्षिक सेमिनार में प्रस्तुत करने की अनिवार्य शर्त होनी चाहिए, जिससे शोध कार्य में सुगमता एवं गुणवत्ता बनी रहे। शोध ग्रंथ विश्वविद्यालय में जमा करने से पूर्व शोध छात्र को कम से कम एक शोध-पत्र राष्ट्रीय स्तर की शोध-पत्रिका में प्रकाशित कराना चाहिए जिससे उसकी शोध दक्षता प्रतिबिम्बित हो सके, साथ ही अग्रिम शोध कार्य की गुणवत्ता बनाए रखने के लिए आवश्यक पृष्ठपोषण प्राप्त हो सके। इसी कड़ी में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (शोध) विनियम, 2009 के अन्तर्गत निर्मित विनियम कि “शोधग्रंथ प्रस्तुत करने के पूर्व छात्र को विभाग में एक साक्षात्कार देना पड़ेगा जो कि समस्त संकाय सदस्यों एवं शोध छात्रों के लिये खुला होगा ताकि टिप्पणियाँ एवं सुझाव प्राप्त हो सकें, जिनको निरीक्षक के सुझाव पर डॉफ्ट शोध ग्रंथ में सम्मिलित किया जा सके”, भी एक स्वागत योग्य कदम है जिससे निश्चित रूप से शोध की गुणवत्ता बढ़ेगी।

मूल्यांकन

प्रायः देखा जाता है कि शोध ग्रंथ विश्वविद्यालय में जमा करने के महीनों बाद भी बाबू संस्कृति के चलते शोध ग्रंथ के मूल्यांकन हेतु मूल्यांकन-कर्ताओं के नामों की सूची नहीं बन पाती है, तदोपरान्त दूसरा विलम्ब, मूल्यांकनकर्ताओं द्वारा व्यस्ताओं के चलते एक्सेप्टेंस रिपोर्ट को समय से न भेजने पर होता है जिसके कारण शोध ग्रंथ का मूल्यांकन अनावश्यक रूप से महीनों/वर्षों लटका रहता है। इस समस्या को दूर करने के लिए विश्वविद्यालय को चाहिए कि वह शोधग्रंथ जमा करने के कुछ महीने पूर्व ही मूल्यांकनकर्ताओं के पैनल एवं उनकी एक्सेप्टेंस रिपोर्ट की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दें ताकि शोध ग्रंथ जमा होने तक मूल्यांकनकर्ता की एक्सेप्टेंस रिपोर्ट आ जाने पर शोध ग्रंथ को मूल्यांकनकर्ता के पास तुरन्त भेजना सुनिश्चित किया जा सके। इस व्यवस्था के लिए शोध पर्यवेक्षक को चाहिए कि वह शोधग्रंथ जमा होने के संभावित समय से छह माह पूर्व विश्वविद्यालय के रिसर्च सेल को सूचित कर दे ताकि विश्वविद्यालय पैनल एवं एक्सेप्टेंस की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दे। शोधग्रंथ का मूल्यांकन गृह राज्य के एक विश्वविद्यालय के शिक्षक एवं अन्य राज्य के एक केंद्रीय विश्वविद्यालय के शिक्षक से कराया जाना चाहिए। दोनों परीक्षकों की जाँच आख्या आने के उपरान्त एक माह के भीतर शोध छात्र की मौखिक परीक्षा करा देनी चाहिए। मौखिक परीक्षा की पूर्व सूचना सभी विभागों के शिक्षकों एवं छात्रों को दी जानी चाहिए जिससे वे भी परीक्षा में प्रतिभाग कर शोध छात्र से प्रश्न पूछकर अपने ज्ञान में वृद्धि कर सकें।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (एम.फिल./पीएच.डी. उपाधि के लिए न्यूनतम मानक एवं प्रक्रिया) विनियम, 2009 के अनुसार विश्वविद्यालय द्वारा पीएच.डी. उपाधि प्रदान करने की घोषणा उपरान्त, शोध ग्रंथ की सॉफ्ट प्रति विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को एक माह के भीतर इस आशय के साथ प्रेषित करनी होगी कि उसको इन्फ्लिबनेट पर डालकर समस्त संस्थाओं/विश्वविद्यालयों को उपलब्ध कराया जा सकें। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का शोध गुणवत्ता की दृष्टि से यह एक सराहनीय प्रयास है। वर्तमान में विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की जाने वाली पीएच.डी. डिग्री के आधार पर शोध ग्रंथों की गुणवत्ता में विभेदीकरण नहीं किया जा सकता है। अतः शोधग्रंथ की मूल्यांकन आख्याओं एवं मौखिक परीक्षा की आख्याओं के आधार पर पीएच.डी. डिग्री पर ग्रेड अंकित किया जाना चाहिए। विश्वविद्यालयों द्वारा ऐसी व्यवस्था कर दिए जाने पर शोध छात्र एवं पर्यवेक्षक अच्छा ग्रेड प्राप्त करने के लिए शोध प्रक्रिया के दौरान कार्य की गुणवत्ता पर ध्यान केंद्रित करते रहेंगे एवं उत्तम ग्रेड पाने पर अग्रिम शोध कार्य हेतु अभिप्रेरित एवं प्रोत्साहित हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त शोध परिणामों को शोध विषयों के ऊपर लागू कराने के प्रयास भी विश्वविद्यालय को करने चाहिए ताकि शोध समष्टि भी शोध परिणामों से लाभान्वित हो सके। इसके लिये विश्वविद्यालय को अपनी शोध पत्रिका प्रकाशित करानी चाहिए जिसमें सभी एवार्डेड पीएच.डी. शोधग्रंथों के सार को छापा जा सकें। आशा है कि यदि विश्वविद्यालय उपरोक्त सुझावों को अमल में ला सकें तो शोधकार्यों की गुणवत्ता में निश्चित रूप से उन्नयन हो सकेगा।

संदर्भ

- कुमार, निरंजन, *अभावों से घिरी उच्च शिक्षा*, दैनिक जागरण, 14 अक्टूबर 2008.
- डोरायराज, ए. जोसफ, 2009. *एन्हेन्सिंग द क्वालिटी ऑफ पीएच.डी. थीसिस इन इंग्लिश*, यूनिवर्सिटी न्यूज, 47 (14), 16.
- प्रसाद, एस.वी.के. 2006. *टीचिंग एण्ड रिसर्च इन हायर एजुकेशन— द प्रसेन्ट सिनैरियो*, यूनिवर्सिटी न्यूज, 44 (22), 11.
- भारत का राजपत्र, *विश्वविद्यालय अनुदान आयोग* (एम. फिल./पी-एच.डी. उपाधि के लिए न्यूनतम मानक एवं प्रक्रिया) विनियम, 2009, भाग-III, खण्ड-4, पृष्ठ-4050, 4051, प्राधिकार से प्रकाशित, 11 जुलाई 2009.
- मल्होत्रा, एस.पी. 2009. *एपिस्टोमोलोजिकल इश्यूज रिलेटिड टू क्वालिटी रिसर्च इन एजुकेशन*, यूनिवर्सिटी न्यूज, 47 (29), 4.
- मुलिमणि, वी.एच. 2009. *टीचिंग एण्ड रिसर्च इन यूनिवर्सिटीज*, यूनिवर्सिटी न्यूज, 47 (17), 1.
- यशपाल, *ज्ञान को मुक्त कीजिए : साक्षात्कार*, अमर उजाला, 25 मार्च 2009.
- सिंह, आर.पी. 2008. *क्वालिटी एश्योरेन्स इन एजुकेशनल रिसर्च – अ क्वेस्ट फॉर पासिबिलिटी*, यूनिवर्सिटी न्यूज, 46 (48), 10.

परीक्षा में नकल के कारणों का विश्लेषण एवं निदान

अश्वनी कुमार गौड़*

बच्चों ने क्या सीखा यह जानने के लिए मूल्यांकन करना आवश्यक है। परीक्षाएँ मूल्यांकन प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण जरिया है। परन्तु परीक्षाओं में विद्यार्थियों द्वारा नकल करने से मूल्यांकन प्रक्रिया निष्प्रभावी हो जाती है और बच्चों का सही निष्पादन नहीं हो पाता। बच्चे नकल क्यों करते हैं, इसके लिए कौन-कौन से कारण जिम्मेदार हैं और छात्रों को नकल करने से कैसे रोका जा सकता है—आदि मुद्दों पर चर्चा की गई है इस शोध परक लेख में।

हमारे सम्मुख बालक के सही मूल्यांकन का लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हम परीक्षाओं का आयोजन करते हैं, किन्तु आज छात्रों द्वारा परीक्षा में नकल करना एक चिंतनीय विषय ही नहीं अपितु शिक्षा में व्याप्त एक बीमारी है। इससे मूल्यांकन प्रक्रिया ही निष्प्रभावी हो जाती है और शिक्षा का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। इससे भी अधिक बुरी बात यह है कि इससे कक्षा में होने वाली पढ़ाई व परीक्षा का तरीका ही प्रतिलक्षित नहीं होता बल्कि हमारे घर व आसपास का वातावरण क्या है, यह भी दिखाई नहीं देता है। इससे शिक्षा की सम्पूर्ण व्यवस्था की विश्वसनीयता पर सन्देह पैदा होता है और इससे जुड़े लोगों की

आस्था पर ही प्रश्नचिह्न लग जाता है। परीक्षा में नकल होने के कई कारण हैं। ये विद्यार्थी की अंक प्रतिशत बढ़ाने की इच्छा से लेकर परीक्षा कराने वाले अधिकारियों की लापरवाही और ढील देने तक फैले हैं। प्रस्तुत अध्ययन में शोधकर्ता ने परीक्षा में नकल करने से संबंधित छात्र, अभिभावक, साथी, अध्यापक, प्रश्नपत्र, परीक्षा व्यवस्था, प्रशासन एवं घर का पर्यावरण आदि कारणों पर विचार किया है।

अध्ययन के उद्देश्य

1. माध्यमिक स्तर के छात्रों द्वारा परीक्षा में नकल करने के कारणों का अध्ययन करना।

*एसोसियेट प्रोफ़ेसर (शिक्षा), दयालबाग शिक्षण संस्थान (डीम्ड विश्वविद्यालय) दयालबाग, आगरा. (उ. प्र.)

2. माध्यमिक स्तर के छात्रों द्वारा नकल सामग्री रखने वाली छिपी जगहों का अध्ययन करना।
3. माध्यमिक स्तर के छात्रों की नकल की प्रवृत्ति के लिए प्रेरक तत्वों का अध्ययन करना।
4. नकल की प्रवृत्ति को रोकने हेतु वांछित सुझावों का अध्ययन करना।

अध्ययन की विधि

शोधकर्ता द्वारा प्रस्तुत अध्ययन की प्रकृति को ध्यान में रखे हुये वर्णनात्मक सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया।

अध्ययन में प्रयुक्त न्यायदर्श

इस अध्ययन में शोधकर्ता ने Purposive Non Random Sampling विधि द्वारा आगरा मण्डल के दसवीं कक्षा के उन 100 छात्रों को सम्मिलित किया जो नकल करते पकड़े गये या जिन्होंने नकल करना स्वीकार किया।

अध्ययन में प्रयुक्त उपकरण

प्रस्तुत अध्ययन में स्वनिर्मित प्रश्नावली द्वारा शोधकर्ता ने छात्रों, साथियों, अभिभावकों एवं अध्यापकों से प्रश्नपत्र, परीक्षा व्यवस्था, प्रशासन एवं घर के पर्यावरण से संबंधित अनेक प्रश्न पूछे।

अध्ययन के निष्कर्ष

अध्ययन के निष्कर्ष ज्ञात करने हेतु स्वनिर्मित प्रश्नावली से प्राप्त उत्तरों का विश्लेषण करके नकल की प्रवृत्ति के कारण ज्ञात किये गये जिनकी विवेचना शोधकर्ता द्वारा निम्नांकित क्रम में की गयी है।

1. छात्र द्वारा अपने अध्ययन पर पर्याप्त समय न देना

38% छात्रों ने बताया कि वे एक से दो घंटा अपनी दिनचर्या में अध्ययन के लिए सुरक्षित

रखते हैं। 26% छात्रों ने बताया कि वे दो घंटे से चार घंटे अपने घर अध्ययन करते हैं। चार से छः घंटे अध्ययन करने वाले छात्रों का प्रतिशत 30 रहा। 6% छात्रों ने बताया कि वे घर पर बिल्कुल ही अध्ययन नहीं करते हैं। कम अध्ययन करने से छात्र की कमजोरी बनी रहती है और यही कमजोरी उसे नकल की प्रवृत्ति की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करती है।

2. छात्रों में भय का अभाव

32% छात्रों ने यह स्वीकारा कि वे नकल करते समय भय का अनुभव नहीं करते हैं। हम देखते हैं कि आज का परीक्षार्थी अनुशासनहीन होता चला जा रहा है। नैतिकता से वह बहुत परे है। अपने से बड़ों का सम्मान करना जैसे व्यावहारिक गुण से वह वंचित है। अपने अध्यापक द्वारा उसे नुकसान नहीं पहुँचाया जाएगा, इस बात से वह निश्चिन्त है। अतः निडर हो परीक्षा भवन में वह नकल के सभी साधन अपनाता है।

3. छात्रों द्वारा नियमित कक्षाओं में अनुपस्थित रहना

52% छात्रों ने बताया कि उनके अध्यापक नियमित रूप से कक्षा में नहीं आते हैं। 30% छात्रों ने बताया कि उनके अध्यापक उन्हें प्रभावशाली ढंग से अध्यापन नहीं कराते हैं। अच्छा अध्यापन छात्र में अध्ययन के प्रति रुचि उत्पन्न करता है और एक नीरस अध्यापक अध्ययन के प्रति नीरसता उत्पन्न करता है परिणामस्वरूप छात्र नियमित कालांशों में अनुपस्थित रहता है। इस कारण उसकी विषयगत कमजोरी बढ़ती जाती है और वह परीक्षा में नकल का सहारा ले, उत्तीर्ण होना ही अपना उद्देश्य बना लेता है। नियमित रूप से

कक्षा में उपस्थित नहीं रहने वाले छात्रों का 18% है।

4. छात्रों का घर के कार्यों में संलग्न होना

शत-प्रतिशत छात्रों ने घर के कार्यों में संलग्न होना स्वीकार किया है। प्राप्त उत्तरों के विश्लेषण के आधार पर छात्र घर पर निम्नलिखित कार्यों में संलग्न पाए गए हैं—

1. घर पर पानी भरना।
2. अनाज लाना एवं अनाज पिसाना।
3. खाना बनाना।
4. खेती एवं व्यापार में माता-पिता को सहयोग देना।
5. पशुओं की देखभाल करना।
6. घरेलू सामान खरीदना।
7. अखबार बेचना।

इस कारण छात्र को अपने अध्ययन के लिए समय निकाल पाने में कठिनाई होती है। परीक्षा की तैयारी के लिए वह अपना मानस नहीं बना पाता है। परिणामस्वरूप परीक्षा भवन में वह नकल का सहारा लेता है।

5. अभिभावक

हालांकि 8% छात्रों ने यह बताया कि उनके अभिभावक भी उनकी इस प्रवृत्ति में सक्रिय भागीदार हैं। हम देखते हैं कि कुछ पहुँच वाले अभिभावक अपने बच्चे की परीक्षा भवन में बैठक व्यवस्था से लेकर संबंधित परीक्षा भवन में कक्षक की नियुक्ति तक अपने प्रभाव को बनाए रखते हैं। वे अपने परिचित अध्यापकों से बराबर सम्पर्क बनाए रखते हैं। साथ ही प्रायोगिक परीक्षाओं में अभिभावक इन्टरनल एवं एक्सटरन मूल्यांकनकर्त्ताओं तक भी अपनी पहुँच का माध्यम ढूँढ ही निकालते

हैं। 26% छात्रों ने बताया कि उनके अभिभावक उन्हें नकल करने को कहते हैं। परिणामस्वरूप बालक नकल की प्रवृत्ति की ओर अग्रसर होता है।

6. मार्गदर्शन का अभाव

26% छात्रों ने बताया कि घर पर उन्हें उनके अध्ययन में मार्गदर्शन देने वालों का अभाव है। अभिभावक अपने बालक को विद्यालय में प्रवेश दिला अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। अशिक्षित की बात तो दूर रही, शिक्षित होते हुए भी समयाभाव के कारण अभिभावक अपने बालक के अध्ययन की ओर ध्यान नहीं दे पाते। अतः अपने अध्ययन में सही मार्गदर्शन के अभाव में छात्र नकल करने को मजबूर हो जाता है।

7. घर पर पढ़ने की सुविधा एवं अध्ययन-सामग्री का अभाव

हमारे यहाँ अधिकाँशतया जीवन निर्वाह के साधनों का अभाव है। परिवार अपने सीमित आर्थिक साधनों में अपने बालकों को पर्याप्त शैक्षणिक सुविधाएँ उपलब्ध कराने में असमर्थ रहता है। विद्यालय जाने वाला बालक इससे प्रभावित होता है। वह अध्ययन-कक्ष एवं अध्ययन-सामग्री से वंचित रहता है। 34% छात्रों ने बताया कि घर पर उन्हें पढ़ने की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं। परिणामस्वरूप बालक पढ़ाई में कमजोर होता है और वह परीक्षा में नकल करता है।

8. साथी

82% छात्रों ने बताया कि वे नकल अपने साथी के सहयोग से करते हैं। 32% छात्रों ने बताया कि वे नकल की सामग्री अपने साथी से प्राप्त करते हैं। 20% छात्रों ने स्वीकार किया कि वे नकल

अनुकरण के आधार पर करते हैं। अपने साथी को लगातार नकल में सफलता प्राप्त करते देख उसका मन लालायित हो ही उठता है। इससे परीक्षा भवन के अधिकाँश छात्र नकल की ओर प्रेरित होते हैं।

9. अध्यापक

32% छात्रों ने बताया कि उनके अध्यापक उन्हें नकल करते समय परीक्षा भवन में नहीं पकड़ते हैं। 18% छात्रों ने बताया कि नकल करने में अध्यापक भी उनकी सहायता करते हैं। अनुभव के आधार पर ऐसा कार्य अध्यापक अपना कोर्स समय पर पूर्ण न करा पाने की वजह से, निजी स्वार्थ की वजह से या अपने मधुर सामाजिक सम्पर्कों की वजह से ही करते हैं। कई अध्यापक परोपकारी सर्वहिताय व्यापक दृष्टिकोण अपनाते हैं। ऐसा कर वे छात्र को नकल के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

10. प्रश्न-पत्रों का दोषपूर्ण होना

82% छात्रों ने बताया कि प्रश्न पत्र के 'अ' भाग में वे नकल करने से सफलता प्राप्त करते हैं। 40% छात्रों ने नकल संकेतों के सहारे करना स्वीकार किया है। ऐसा होने पर 'अ' भाग की उपयोगिता समाप्त-सी हो जाती है और वह छात्रों को नकल की प्रवृत्ति में सहयोगी के रूप में परिवर्तित हो जाती है। 42% छात्रों ने स्वीकारा कि उन्हें सीधे प्रश्नों में नकल करने में सफलता मिलती है।

11. बैठक व्यवस्था

36% छात्रों ने बताया कि परीक्षा भवन में उनके बैठने की उचित व्यवस्था नहीं होती है। 40%

छात्रों ने बताया कि उन्हें परीक्षा भवन में पर्याप्त दूरी पर नहीं बैठाया जाता है। बैठक व्यवस्था में प्रत्येक छात्र के बीच अपेक्षित दूरी वाँछनीय है, किन्तु इसका अभाव पाया जाता है। अतः अनुचित बैठक व्यवस्था छात्र को नकल के लिए प्रेरित करती है।

12. प्रशासन की लापरवाही

40% छात्रों ने बताया कि उन्हें परीक्षा नियमों की जानकारी नहीं दी जाती है। 30% छात्रों ने बताया कि उन्हें नकल करने से नहीं रोका जाता है। 60% छात्रों ने बताया कि उन्हें नकल करते हुए प्रधानाध्यापक द्वारा नहीं पकड़ा जाता है। वैसे 46% छात्रों ने नकल करते हुए पकड़े जाना स्वीकार किया है, किन्तु 30% छात्रों ने ही यह बताया कि पकड़े जाने का प्रभाव उनके परीक्षा परिणाम पर पड़ा। प्राप्त उत्तरों से विदित हुआ कि परीक्षक अपने ही स्तर पर उन्हें साधारण दण्ड देकर छोड़ देते हैं। अनुभव के आधार पर इसका कारण कुछ परीक्षकों की यह आशा होती है कि उनका अधिकारी इस संबंध में उनसे भी कहीं अधिक सहानुभूतिपूर्वक विचार करता है या कुछ इस संबंध में प्रत्यक्ष रूप से सामने आना नहीं चाहते। अतः प्रशासन द्वारा परीक्षार्थी के साथ सहानुभूति रखना, परीक्षार्थी को नकल के लिए प्रोत्साहन देना हो जाता है।

13. छिपी जगहों पर नकल की सामग्री रखना

छात्र छिपी हुई जगहों पर नकल की सामग्री रखते हैं जिनसे वे आसानी से नहीं पकड़े जाते। नहीं पकड़े जाने पर वे इस प्रवृत्ति को दोहराते रहते हैं। छात्रों के पूछे जाने पर जानकारी मिली

कि वे नकल संबंधी सामग्री निम्नलिखित स्थानों पर रखते हैं या लिखते हैं—

1. शर्ट/कमीज की कालर के अन्दर
2. पैन या पैन के खोले के अन्दर
3. अंगूठी के अंदर
4. मौजे या जूतों के अन्दर
5. छोटी प्लास्टिक की थैली में डालकर मुँह के अन्दर
6. पैंट की मोरी के अन्दर
7. जेब या चोर जेब के अन्दर
8. नीकर की जेब के अन्दर
9. कमीज के नीचे तुरपाई वाले स्थान के अन्दर
10. कमर के बेल्ट के नीचे
11. घड़ी की बेल्ट के नीचे
12. कान में अटका कर बड़े बालों को ऊपर ले जाकर
13. दीवार पर पहले लिखकर
14. पैड पर या इन्स्ट्रूमेंट बाक्स में लिखकर
15. गणित के सूत्र उत्तर-पुस्तिका देते ही रफ़ कार्य वाले स्थान पर लिखकर
16. पुराने प्रश्न-पत्र की छपाई के बीच पेन्सिल से लिखकर
17. प्रश्न-पत्र पर लिखकर उसका आदान-प्रदान करते हुए
18. जूतों के नीचे चिपका कर
19. कमीज के बटन के पास अटका कर
20. टेबुल या पास में खिड़की आदि के किसी छेद में अटकाकर।

21. उत्तर-पुस्तिका और प्रश्न-पत्र के नीचे बीच में प्राप्त आँकड़ों के आधार पर नकल की प्रवृत्ति के लिए दोषी वर्गवार स्थिति निम्नानुसार है—

नकल के लिए दोषी कारक	स्वीकारने वाले छात्रों का प्रतिशत
1. छात्र	48% छात्रों ने
2. अभिभावक	16% छात्रों ने
3. साथी	40% छात्रों ने
4. अध्यापक	46% छात्रों ने
5. प्रश्नपत्र	46% छात्रों ने
6. परीक्षा व्यवस्था	35% छात्रों ने
7. प्रशासन	58% छात्रों ने
8. घर का पर्यावरण	20% छात्रों ने

तालिका

उपर्युक्त तालिका के अनुसार निष्कर्ष निकलता है कि नकल के प्रेरक तत्व क्रमानुसार निम्नलिखित हैं—

1. प्रशासन

सबसे पहला प्रेरक तत्व प्रशासन है जो अपनी गलत नीतियों, निर्णयों, ढीली एवं अनियोजित योजनाओं द्वारा छात्र को नकल के लिए प्रेरित करता है।

2. छात्र

दूसरे क्रम पर छात्र स्वयं आते हैं जो आदतन परीक्षा में उत्तीर्ण होने, अच्छे अंक प्राप्त करने एवं अपनी कमजोरी को छिपाने के लिए नकल करते हैं।

3. अध्यापक एवं प्रश्न-पत्र

तीसरा स्थान अध्यापक एवं प्रश्न-पत्र का है जिनका प्रभाव बराबर-बराबर रहता है। अध्यापक

की ढीली, टालमटोल नीति एवं उसकी कर्तव्य-निष्ठा में कमी नकल की प्रवृत्ति को प्रभावी करते हैं। प्रश्न-पत्र भी स्वयं ऐसे ही होते हैं जिनके कारण छात्र आसानी से नकल कर लेते हैं।

4. साथी

चौथा स्थान साथी वर्ग का है। साथी के ही अनुकरण एवं सहयोग से प्रभावित होकर छात्र नकल करते हैं।

5. परीक्षा व्यवस्था

पाँचवा स्थान परीक्षा व्यवस्था का है। घर का पर्यावरण एवं अभिभावक नकल की प्रवृत्ति के लिए कम दोषी ठहरे हैं इनके प्रभाव का प्रतिशत न्यून है।

दूसरे शब्दों में हम निष्कर्ष को दो भागों में बाँट सकते हैं।

1. प्रत्यक्ष

जिसमें स्वयं छात्र भागीदार होता है।

2. अप्रत्यक्ष

जिसमें प्रशासन, अध्यापक, प्रश्न-पत्र, साथी, परीक्षा व्यवस्था, घर का पर्यावरण एवं अभिभावक आते हैं।

प्रत्यक्ष प्रभाव 15.53% एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव 84.47% रहा है। अतः अप्रत्यक्ष प्रभाव अधिक दोषी है।

सुझाव

1. स्कूली शिक्षा में पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रमों और

पाठ्यपुस्तकों में इस तरह सुधार लाया जाए कि विद्यार्थियों पर पढ़ाई का बोझ न पड़े।

2. परीक्षा व्यवस्था को लचीला बनाया जाए। प्रश्नों के स्वरूप को बदला जाए जिससे विद्यार्थियों को रटने की आवश्यकता न हो वरन् वे अपने सन्दर्भों के अनुसार स्वयं ही उत्तर लिख सकें।
 3. प्रधानाध्यापक एवं अध्यापक अपने शैक्षिक और नैतिक दायित्वों का निर्वाह करें।
 4. खुली पुस्तक परीक्षाओं की व्यवस्था की जाए। परीक्षा के कुछ अन्य तरीके भी अपनाये जाएँ। इस विषय में छात्र, अध्यापक एवं अभिभावकों में विचार-विमर्श हो।
 5. कक्षागत अध्यापन को प्रभावी बनाया जाए।
 6. छात्रों के सही मार्गदर्शन हेतु विद्यालय में अध्ययन कक्ष स्थापित किये जाएँ जिनमें उन्हें शैक्षिक मार्गदर्शन दिया जाए।
 7. अध्यापक-अभिभावक संघ को प्रभावी बनाया जाए।
 8. छात्र को आत्मचिंतन के अवसर प्रदान किये जाएँ।
- अन्त में यही कहा जा सकता है कि छात्रों में व्याप्त नकल की प्रवृत्ति का निराकरण करना मूलभूत आवश्यकता है इसके बिना हमारे शिक्षण उद्देश्यों को क्षति पहुँचती है। अतः हमें इस ओर ध्यान देना चाहिए।

उच्च शिक्षा स्तर पर कार्यरत अध्यापकों की कक्षा शिक्षण दक्षता का अध्ययन

रीना सिंह*
दिनेश कुमार गुप्ता**

किसी राष्ट्र के विकास में उच्च शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान होता है। यह शिक्षा उच्च गुणवत्तापूर्ण होनी चाहिए। शिक्षा की गुणवत्ता बहुत हद तक शिक्षक के व्यवहार से प्रभावित होती है जिसे छात्र शिक्षक परस्पर अंतःक्रिया के अवलोकन से ज्ञात किया जा सकता है। प्रस्तुत शोध प्रपत्र में कक्षा में शिक्षकों के व्यवहार को ज्ञात किया गया है। इस शोध द्वारा यह तथ्य सामने आया है कि व्याख्यान के साथ नोट्स देने तथा छात्रों को पृष्ठपोषण देने में 67-70 प्रतिशत शिक्षक प्रभावी हैं जबकि शिक्षिकाओं का मात्र 33% है। वहीं 'छात्रों को उचित दिशा निर्देशन देने' में शिक्षिकाएँ अधिक दक्ष पाई गई। अध्ययन से स्पष्ट है कि शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में बदलाव लाने की आवश्यकता है जिससे कि शिक्षक अपने छात्रों से संबंध बनाने में दक्ष हो पाएँ। यही नहीं यह शोध सेवाकालीन प्रशिक्षण की आवश्यकता को भी रेखांकित करता है।

किसी भी राष्ट्र के विकास में वहाँ की उच्च शिक्षा प्रणाली का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान होता है। वास्तव में किसी भी राष्ट्र का आर्थिक, तकनीकी, वैज्ञानिक आदि क्षेत्रों में विकास एक सीमा तक वहाँ के उच्च शिक्षा में विकास के ऊपर निर्भर करता है। चूँकि शिक्षा के प्रसार में वृद्धि करके तथा शिक्षा स्तर का उन्नयन करके राष्ट्रीय विकास की दर को बढ़ाया जा सकता है

और शिक्षा के प्रसार का लाभ तब तक नहीं मिल सकता जब तक शिक्षा गुणवत्तायुक्त न हो। यदि उच्च शिक्षा अध्ययन केंद्र से निकलने वाले विद्यार्थी गुणवत्तायुक्त मानव संसाधन के रूप में कार्य करते हैं तो राष्ट्र की प्रगति निश्चय व सहज रूप से होगी। विद्यार्थियों की उपलब्धि शिक्षक व्यवहार से प्रभावित होती है तथा छात्रों में मनुष्योचित अभिवृत्ति के विकास के लिए शिक्षक

* शोध छात्रा, यू.जी.सी. (नेट) शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ. प्र.)

** शोध छात्र, यू.जी.सी. (नेट) शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ. प्र.)

सबसे महत्वपूर्ण कारक होता है। सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली का विस्तार शिक्षक की गुणवत्ता पर निर्भर है।

कक्षा शिक्षण शिक्षक और छात्र के बीच परस्पर अंतःक्रिया की प्रक्रिया होती है। एक सुव्यवस्थित अवलोकन प्रणाली में निर्देशात्मक अधिगम, शिक्षक छात्र परस्पर उचित अंतःक्रिया की पहचान तथा शिक्षण वर्गीकरण का पूर्ण प्रतिनिधित्व होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अवलोकन पद्धति द्वारा शिक्षण गतिविधियों, शिक्षण दक्षता तथा इसके घटकों के प्रति जागरूकता उत्पन्न की जा सकती है। चूँकि किसी देश का विकास गुणवत्तायुक्त शिक्षा से प्रभावित होता है और शिक्षा की गुणवत्ता शिक्षक व्यवहार से प्रभावित होती है। शिक्षक व्यवहार को छात्र शिक्षक परस्पर अंतःक्रिया के अवलोकन द्वारा ज्ञात किया जा सकता है।

अतः शिक्षकों के कक्षा में व्यवहार को ज्ञात करने का प्रयास प्रस्तुत शोध प्रपत्र में किया गया है ताकि यह ज्ञात किया जा सके कि कक्षा शिक्षण के किन क्षेत्रों में शिक्षकों का व्यवहार शिक्षण दक्षता के अनुरूप है तथा कहाँ उन्हें और अधिक प्रशिक्षण की आवश्यकता है ताकि वे भविष्य में एक योग्य शिक्षक बन सकें।

पासी और शर्मा (1982) ने माध्यमिक स्तर के शिक्षकों की शिक्षण दक्षता को लेकर एक अध्ययन किया तथा अध्ययन से प्राप्त किया कि प्रश्न पूछना, पाठ का प्राक्कथन देना, कक्षा व्यवस्थापन करना, श्यामपट का प्रयोग करना, उचित भाषा में पाठ्य को प्रस्तुत करना इत्यादि शिक्षण विधियों के प्रति 70-80 प्रतिशत शिक्षकों में दक्षता पायी गयी।

पांडियन (1983) ने शिक्षक के व्यक्तित्व, अधिगम शैली और शिक्षण-योजना के बीच सामान्य संबंध का प्रत्ययात्मक अवलोकन किया। निष्कर्ष में पाया गया कि शिक्षक का व्यक्तित्व, अधिगम शैली उसकी शिक्षण योजना से प्रभावित होती है।

जेठी, रेनू और कुमार, बी. (2007) ने शिक्षक प्रभावशीलता का अध्ययन किया और पाया कि शिक्षकों का व्यक्तित्व, शिक्षण योजना, शिक्षक छात्र अंतःक्रिया, निर्देशन इत्यादि शिक्षक की अन्य दक्षताओं की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं।

तिवारी, जी.एन. (2001) ने प्राथमिक शिक्षण, शिक्षकों की दक्षता और प्रशिक्षण आवश्यकता पर अवलोकनात्मक अध्ययन में पाया कि शिक्षकों में सामुदायिक संसाधन स्रोत का कक्षा शिक्षण में प्रयोग करना, छात्रों को निर्देशन देना, क्रियात्मक अनुसंधान करना, अनुवर्ती सेवा देना इत्यादि के प्रति कम दक्षता पायी गयी।

शिक्षकों की दक्षता को लेकर पाल राजेन्द्र (1993) राम चंद्राकर और निलावर (1997) भाटिया, आर. (2006), नसीमा, सी. (2006), पठानिया (2001), राजेश्वर (2002) ने अध्ययन किया और शिक्षकों को विभिन्न क्षेत्रों में और अधिक दक्ष होने के लिए प्रशिक्षण को आवश्यक माना।

उपर्युक्त अध्ययनों से स्पष्ट है कि उच्च शिक्षा के गुणात्मक अभिवृद्धि का एक महत्वपूर्ण घटक शिक्षण दक्षता है जो कि शिक्षण के समय परिलक्षित होता है। इसी बिन्दु को ध्यान में रखते हुए यह प्रासंगिक है कि यह अवलोकित किया जाए की क्या शिक्षक वास्तव में कक्षा की जिम्मेदारियों का निर्वहन उचित विधि से करते हैं?

अध्ययन के उद्देश्य

1. उच्च शिक्षा स्तर पर कार्यरत शिक्षक तथा शिक्षिकाओं की शाब्दिक कक्षा शिक्षण दक्षता की तुलना करना।
2. उच्च शिक्षा स्तर पर कार्यरत शिक्षक तथा शिक्षिकाओं की अशाब्दिक कक्षा शिक्षण दक्षता की तुलना करना।

परिकल्पनाएँ

1. (क) उच्च शिक्षा स्तरीय शिक्षक तथा शिक्षिकाओं की शाब्दिक प्रत्यक्ष कक्षा शिक्षण दक्षता में सार्थक अन्तर नहीं है।
(ख) उच्च शिक्षा स्तरीय शिक्षक तथा शिक्षिकाओं की शाब्दिक अप्रत्यक्ष कक्षा शिक्षण दक्षता में सार्थक अन्तर नहीं है।
2. (क) उच्च शिक्षा स्तरीय शिक्षक तथा शिक्षिकाओं की अशाब्दिक सकारात्मक कक्षा शिक्षण दक्षता में सार्थक अन्तर नहीं है।
(ख) उच्च शिक्षा स्तरीय शिक्षक तथा शिक्षिकाओं की अशाब्दिक नकारात्मक कक्षा शिक्षण दक्षता में सार्थक अन्तर नहीं है।

समष्टि तथा न्यादर्श

प्रस्तुत समस्या के अध्ययन हेतु इलाहाबाद विश्वविद्यालय में कार्यरत समस्त शिक्षकों को समष्टि के रूप में सम्मिलित किया गया है। न्यादर्श हेतु कला संकाय में अध्यापनरत् कुल 60 शिक्षकों का चयन किया गया जिसमें 30 शिक्षक तथा 30 शिक्षिकाओं को लिया गया है।

शोध उपकरण

प्रस्तुत समस्या के अध्ययन के लिए शोधकर्ताओं द्वारा निर्मित 'कक्षा अवलोकन मापनी' का निर्माण किया गया है।

अवलोकन मापनी का निर्माण

इस मापनी में शिक्षक के उन शिक्षण व्यवहारों को सम्मिलित किया गया है जिनका प्रयोग शिक्षकों के द्वारा कक्षा अध्यापन की अवधि में किया जाता है। 'कक्षा अवलोकन मापनी' के निर्माण के लिए 'लैंडर्स की श्रेणी प्रणाली (Category System) का अनुकरण किया है तथा इस कक्षा अवलोकन मापनी को मुख्यतः दो भागों में बाँटा गया है—

1. **शाब्दिक कक्षा अंतःक्रिया**— शब्दिक कक्षा अंतःक्रिया को दो भागों में विभाजित किया गया—
(क) प्रत्यक्ष कक्षा शिक्षण दक्षता जिसमें उपयुक्त शिक्षण सामग्री का चयन करना, कक्षा को रुचिकर बनाना, छात्रों को सीखने के लिए प्रोत्साहित करना सम्मिलित है।
(ख) अप्रत्यक्ष कक्षा शिक्षण दक्षता जिसमें उपयुक्त उदाहरण देना स्पष्ट भाषा का प्रयोग, अनुशासनात्मक वातावरण का निर्माण करना सम्मिलित है।
2. **अशाब्दिक कक्षा अंतःक्रिया**— अशाब्दिक कक्षा अंतःक्रिया को दो भागों में विभाजित किया गया है। जो कक्षा शिक्षण के समय परिलक्षित होता है—
(क) सकारात्मक कक्षा अंतःक्रिया— जिसमें क्रमशः कक्षा में प्रसन्न रहना छात्रों के उत्तर को सुनना इत्यादि है।

(ख) नकारात्मक कक्षा अंतःक्रिया— जिसमें क्रमशः शिक्षण के प्रति उदासीन रहना, कक्षा में सख्त बने रहना, बात-बात पर नाराजगी प्रदर्शित करना इत्यादि है।

प्रदत्त सँकलन

प्रदत्तों के सँकलन के लिए प्रत्येक शिक्षक के कक्षा शिक्षण व्यवहार का तीन-तीन बार अवलोकन किया गया है।

प्रदत्त विश्लेषण

प्रस्तुत समस्या अर्थात् उच्च शिक्षा स्तरीय शिक्षक तथा शिक्षिकाओं की शाब्दिक शिक्षण दक्षता के

तुलनात्मक अध्ययन के लिए कई वर्ग (χ^2) तथा प्रतिशत विश्लेषण का प्रयोग किया गया। अशाब्दिक शिक्षण व्यवहार के अध्ययन के लिए प्रतिशत विश्लेषण का प्रयोग किया गया है।

उद्देश्य 1 शाब्दिक कक्षा शिक्षण दक्षता की व्याख्या

तालिका 1 के अवलोकन से स्पष्ट है कि कक्षा में छात्रों को अधिक सीखने के लिए 'प्रोत्साहित करना' पर कई वर्ग का मान 8.43 है जो कि (df = 2) के .05 सार्थकता स्तर के तालिका मान से अधिक है।

तालिका 1
शिक्षक तथा शिक्षिकाओं की प्रत्यक्ष कक्षा शिक्षण दक्षता की तुलना के लिए χ^2 परीक्षण

क्र. सं.	पद	शिक्षक				शिक्षिका				अवलोकन χ^2 (2x3 मान पर) df = 2
		अधिक प्रभावी	कम प्रभावी	अप्रभावी	योग	अधिक प्रभावी	कम प्रभावी	अप्रभावी	योग	
1.	उपयुक्त शिक्षण सामग्री का चयन करना	22 (73.33)	5 (16.67)	3 (10)	30	15 (50)	5 (16.67)	10 (33.33)	30	5.08
2.	शिक्षक द्वारा कक्षा को रुचिकर बनाना	17 (56.67)	7 (23.33)	6 (20)	30	14 (46.67)	10 (33.33)	6 (20)	30	0.818
3.	कक्षा में छात्रों को अधिक सीखने के लिए प्रोत्साहित करना	20 (66.67)	6 (20)	4 (13.33)	30	11 (36.67)	4 (13.33)	15 (50)	30	8.43*
4.	शिक्षक द्वारा छात्रों से प्रश्न पूछना-	18 (60)	6 (20)	6 (20)	30	11 (36.67)	7 (23.33)	12 (40)	30	3.75
	(i) ज्ञानात्मक प्रश्न	10 (33.33)	3 (10)	17 (56.67)	30	6 (20)	2 (6.67)	22 (73.33)	30	1.84
	(ii) अभिसमणात्मक प्रश्न	8 (26.67)	2 (6.67)	20 (66.67)	30	6 (20)	2 (6.67)	22 (73.33)	30	2.61

*.05 स्तर पर सार्थक

अतः इसे .05 सार्थकता स्तर पर स्वीकार किया जाता है। इस दक्षता के लिए नकारात्मक परिकल्पना को अस्वीकार करते हुए कह सकते हैं कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय में कार्यरत शिक्षक तथा शिक्षिकाओं की प्रत्यक्ष कक्षा शिक्षण दक्षता की इस शिक्षण दक्षता में सार्थक अन्तर है।

प्रतिशत विश्लेषण से अवलोकित होता है कि जहाँ अधिकाधिक 66.67% शिक्षक तो वहीं केवल 36.67% शिक्षिकाएँ ही छात्रों को अधिक सीखने के लिए प्रभावी ढंग से प्रोत्साहित करती हैं।

इसी प्रकार कक्षा शिक्षण में 'उपयुक्त शिक्षण सामग्री का प्रयोग करना' जैसे शिक्षण व्यवहार के जहाँ 73.33% शिक्षक तो वहीं केवल 50% शिक्षिकाएँ ही प्रभावी ढंग से कक्षा में उपयोग करती हैं।

तालिका के अवलोकन से स्पष्ट है कि अन्य सभी शिक्षण दक्षताओं के लिए जैसे- शिक्षक द्वारा कक्षा को रुचिकर बनाना तथा छात्रों से प्रश्न पूछना जैसे पदों के लिए शिक्षक तथा शिक्षिकाओं दोनों का ही कक्षा शिक्षण व्यवहार लगभग समान पाया गया।

तालिका 2

शिक्षक तथा शिक्षिकाओं के मध्य अप्रत्यक्ष कक्षा शिक्षण दक्षता की तुलना के लिए χ^2 परीक्षण की तालिका

क्र. सं.	पद	शिक्षक				शिक्षिकाएँ				अवलोकन $\chi^2(2 \times 3$ मान पर) $df = 2$
		अधिक प्रभावी	कम प्रभावी	अप्रभावी	योग	अधिक प्रभावी	कम प्रभावी	अप्रभावी	योग	
1.	कक्षा में व्याख्यान के साथ नोट्स देना	21 (70)	7 (23.33)	2 (6.67)	30	10 (33.33)	9 (30)	11 (36.67)	30	10.38**
2.	छात्रों को उचित दिशा में निर्देशित करना	12 (40)	5 (16.67)	13 (43.33)	30	19 (63.33)	7 (23.33)	14 (13.33)	30	6.67*
3.	पाठ के उपयुक्त उदाहरण देना	18 (60)	5 (16.67)	7 (23.33)	30	14 (46.67)	8 (26.67)	8 (26.67)	30	1.26
4.	छात्रों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देना	18 (60)	7 (23.33)	5 (16.67)	30	16 (53.33)	8 (26.67)	6 (20)	30	2.72
5.	छात्रों को उद्बोधित करना (i) वर्तमान तथ्यों के प्रति	15 (50)	7 (23.33)	8 (26.67)	30	15 (50)	6 (20)	9 (30)	30	2.71
	(ii) विषयों के प्रति	20 (66.67)	6 (20)	4 (13.33)	30	15 (50)	6 (20)	9 (30)	30	2.63
6.	कक्षा में स्पष्ट भाषा का प्रयोग करना	20 (66.67)	7 (23.33)	3 (10)	30	20 (66.67)	5 (16.67)	5 (16.67)	30	.832
7.	अनुशासनात्मक वातावरण का निर्माण करना	22 (73.33)	7 (23.33)	1 (3.33)	30	16 (53.33)	8 (26.67)	6 (20)	30	4.58
8.	छात्रों को उचित पृष्ठपोषण देना	20 (66.67)	8 (26.67)	2 (6.67)	30	10 (33.33)	8 (26.67)	12 (40)	30	10.46**

* */ * .01/.05 स्तर पर सार्थक

तालिका 2 के अवलोकन से स्पष्ट है कि कक्षा शिक्षण के अप्रत्यक्ष शिक्षण दक्षता का जब अवलोकनात्मक विश्लेषण काई वर्ग के माध्यम से किया गया तो छात्रों को 'उचित दिशा में निर्देशित करना' जैसे शिक्षण व्यवहार का काई वर्ग मान 6.67 आया जो कि (df = 2) के .05 के सार्थकता स्तर से अधिक है। अतः यह पद .05 स्तर पर सार्थक है। दक्षता के लिए नकारात्मक परिकल्पना को अस्वीकार करते हुए कह सकते हैं कि शिक्षकों तथा शिक्षिकाओं के शिक्षण व्यवहार में इस पद के लिए अन्तर पाया गया।

इसी प्रकार 'कक्षा में व्याख्यान के साथ नोट्स देना' तथा 'कक्षा में छात्रों को उचित पृष्ठपोषण देना' जैसे – शिक्षण व्यवहार का काई वर्ग मान क्रमशः 10.38 तथा 10.46 आया जो (df = 2) के .01 सार्थकता स्तर के तालिका मान से अधिक है। अतः हम कह सकते हैं कि ये पद .01 स्तर पर सार्थक हैं। अतः यहाँ नकारात्मक परिकल्पना को अस्वीकार करते हुए कहा जा सकता है कि कक्षा में 'व्याख्यान के साथ नोट्स देना' तथा कक्षा में छात्रों को 'उचित पृष्ठपोषण देना' जैसे—शिक्षण व्यवहार के प्रति शिक्षकों तथा शिक्षिकाओं की दक्षता में सार्थक अंतर है।

प्रतिशत विश्लेषण से स्पष्ट है कि छात्रों को उचित दिशा में निर्देशित करना' पद पर 40% शिक्षक तो वहीं 63.33% शिक्षिकाएँ प्रभावी पायी गयीं। अर्थात् शिक्षिकाएँ छात्रों को दिशा-निर्देशन करने में शिक्षकों की अपेक्षा अधिक प्रभावी पायी गयीं।

अन्य पदों जैसे 'कक्षा में व्याख्यान के साथ नोट्स देना' तथा छात्रों को 'उचित पृष्ठपोषण देना' के लिए शिक्षक क्रमशः 70% तथा 67% दक्षता प्रदर्शित करते हैं तो वहीं मात्र 34% तथा 33% शिक्षिकाएँ ही इनके प्रति दक्षता को प्रदर्शित करती हैं। अर्थात् हम कह सकते हैं कि इन पदों के लिए शिक्षक समूह शिक्षिका समूह से अधिक प्रभावी है।

तालिका के अवलोकन से स्पष्ट है कि अन्य कक्षा शिक्षण व्यवहार के प्रति शिक्षक तथा शिक्षिकाओं के प्रभाव का प्रतिशत लगभग समान स्तर का है।

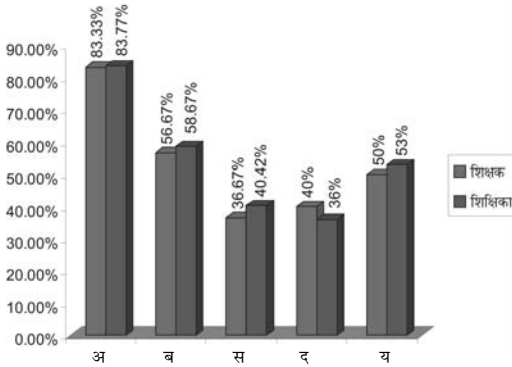
इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'व्याख्यान के साथ नोट्स देना', 'छात्रों को उचित दिशा में निर्देशित करना', इत्यादि शिक्षण व्यवहारों के प्रति शिक्षकों द्वारा शिक्षिकायें की अपेक्षा अधिक दक्षता प्रदर्शित की गयी।

उद्देश्य 2 अशाब्दिक कक्षा अंतःक्रिया— कक्षा में शिक्षकों तथा शिक्षिकाओं के अशाब्दिक कक्षा अन्तःक्रियात्मक दक्षता की तुलना तालिका 3 में दिखाई गई हैं।

तालिका 3

(1) सकारात्मक कक्षा अंतःक्रिया

	कथन	शिक्षक %	शिक्षिका %
(अ)	कक्षा में आत्मविश्वास प्रकट करना	83.33%	83.77%
(ब)	छात्रों के उत्तर को ध्यानपूर्वक सुनना	56.67%	58.67%
(स)	छात्रों के उत्तर के प्रति सकारात्मक भाव	36.67%	40.42%
(द)	कक्षा में प्रसन्नता का वातावरण बनाना	40%	36%
(य)	छात्रों के प्रति उत्तरदायित्व प्रकट करना	50	53



शिक्षकों के सकारात्मक कक्षा अंतःक्रिया की तुलना हेतु प्रतिशत रेखा चित्र

तालिका 3 में अशाब्दिक कक्षा अंतःक्रिया के प्रति कुल शिक्षकों द्वारा प्रदर्शित की गयी दक्षताओं का प्रतिशतीय विश्लेषण निम्न प्रकार है-

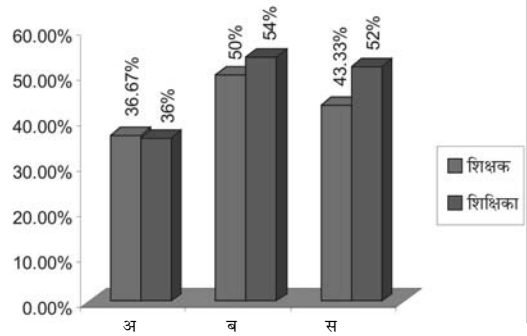
सकारात्मक कक्षा अंतःक्रिया

- कक्षा अवलोकन से स्पष्ट है कि सर्वाधिक 83% शिक्षकों में तथा 84% शिक्षिकाओं ने कक्षा में आत्मविश्वास का भाव परिलक्षित हुआ।
- 57% शिक्षक तथा 58% शिक्षिकाओं द्वारा कक्षा में छात्रों द्वारा कही गयी बात को ध्यानपूर्वक सुनते पाया गया। 50% शिक्षक तथा 53% शिक्षिकाओं द्वारा छात्रों के प्रति अपने उत्तरदायित्व के प्रति जागरूकता प्रदर्शित की गयी।
- 40% शिक्षकों तथा 36% शिक्षिकाओं द्वारा कक्षा को रुचिकर बनाने की दक्षता प्रदर्शित की गयी तो मात्र 37% शिक्षकों तथा 40% शिक्षिकाओं द्वारा ही छात्रों के उत्तर के प्रति सकारात्मक भाव प्रदर्शित किये गए अर्थात् इसके द्वारा छात्रों द्वारा दिये गये उत्तरों के प्रति प्रशंसा की गयी।

तालिका 4

(2) शिक्षकों की नकारात्मक कक्षा अंतःक्रिया की तुलना

कथन	शिक्षक %	शिक्षिका %
(अ) शिक्षण के प्रति उदासीन रहना	36.67%	36%
(ब) कक्षा में सख्त रहना	50%	54%
(स) चिड़चिड़ापन प्रदर्शित करना	43.33%	52%



शिक्षकों के सकारात्मक कक्षा अंतःक्रिया की तुलना हेतु प्रतिशत रेखा चित्र

नकारात्मक कक्षा अंतःक्रिया

- कक्षा अवलोकन के समय पाया गया कि 50% शिक्षक तथा 54% शिक्षिकाएँ कक्षा में सख्त बने रहना पसंद करती हैं जिसका कारण यह हो सकता है कि अधिकतर शिक्षकों द्वारा माना जाता है कक्षा में छात्रों से अधिक मित्रवत व्यवहार करना कक्षा में अनुशासनहीनता को बढ़ावा देना है।
- 43% शिक्षकों तथा 52% शिक्षिकाओं द्वारा कक्षा में चिड़चिड़ापन प्रदर्शित किया गया अर्थात् इनके द्वारा कक्षा शिक्षण के समय बात-बात पर छात्रों पर नाराजगी व्यक्त की गयी तथा छात्रों को परस्पर अन्तःक्रिया का अवसर नहीं दिया गया।

- 37% शिक्षकों तथा 36% शिक्षिकाओं द्वारा कक्षा में उदासीनता का भाव व्यक्त किया गया अर्थात् शिक्षकों द्वारा कक्षा शिक्षण के समय कक्षा वातावरण तथा शिक्षण के प्रति अपने व्यवहार से कोई विशेष लगाव नहीं प्रदर्शित करते नहीं पाया गया।

निष्कर्ष—अध्ययन से प्राप्त निष्कर्ष निम्नलिखित है—कक्षा में व्याख्यान के साथ नोट्स देना, तथा छात्रों को अध्ययन के लिए उचित पृष्ठपोषण देना, जैसे शिक्षण व्यवहार को जहाँ 67-70% शिक्षकों द्वारा अधिक प्रभावी ढंग से व्यक्त किया गया वहीं मात्र 33% शिक्षिकाएँ ही इस शिक्षण व्यवहारों को प्रभावी ढंग से व्यक्त करती हैं।

- 67% शिक्षकों तथा 37% शिक्षिकाओं द्वारा कक्षा में छात्रों को सीखने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।
- 63% शिक्षिकाएँ तथा 40% शिक्षकों द्वारा छात्रों को उचित दिशा में निर्देशित करते हुए पाया गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि छात्रों को निर्देशन देने के संबंध में शिक्षिकाएँ, शिक्षकों की अपेक्षा छात्रों को अधिक प्रभावित करती है।

इसके अतिरिक्त ऐसे शिक्षण व्यवहार जिनके प्रति नियमित शिक्षक तथा सम्पर्क कक्षा शिक्षकों के मध्य कोई अन्तर नहीं पाया गया वे निम्नलिखित हैं—

- (1) कक्षा में व्याख्यान के अनुरूप उदाहरण देना।
- (2) छात्रों को उद्बोधित करना।
- (3) कक्षा में स्पष्ट भाषा का प्रयोग करना।
- (4) कक्षा में अनुशासनात्मक वातावरण का निर्माण करना।

- (5) उपयुक्त शिक्षण सामग्री का चयन करना।
- (6) कक्षा को रुचिकर बनाना।
- (7) कक्षा में छात्रों से उचित संबंध बनाना।

उपर्युक्त अवलोकन से स्पष्ट होता है कि व्याख्यान के साथ नोट्स देना, छात्रों को उचित पृष्ठपोषण देना तथा छात्रों को अधिक सीखने के लिए प्रोत्साहित करना जैसी दक्षता के लिए शिक्षक, शिक्षिकाओं की अपेक्षा अधिक दक्ष पाये गए जिसका कारण शिक्षकों को छात्रों से सहज संबंध स्थापित करने का अधिक समय मिलना हो सकता है। अतः वे छात्रों की अकादमिक कमजोरियों का ज्ञान रखते हैं और वे छात्रों को उचित निर्देशन तथा पृष्ठपोषण देने में समर्थ होते हैं किंतु छात्रों को 'उचित दिशा में निर्देशित करना' जैसे पद के लिए शिक्षिकाएँ शिक्षकों की अपेक्षा अधिक दक्षता में व्यक्त करती हैं जिसका कारण शिक्षिकाओं का शिक्षण व्यवसाय तथा छात्रों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझना हो सकता है।

इसके अतिरिक्त अन्य पदों पर शिक्षकों के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं पाया गया, जिसका कारण दोनों ही समूह के शिक्षण करने वाले शिक्षक द्वारा अनिवार्य योग्यताओं की पूर्ति करना है।

अध्ययन से स्पष्ट है कि शिक्षकों द्वारा कुछ शिक्षण दक्षताओं जैसे—'कक्षा में प्रश्न पूछना' कक्षा को रुचिकर बनाना तथा उचित शिक्षण सामग्री का प्रयोग करना के प्रति बहुत ही कम दक्षता प्रकट होती है। अध्ययन से अवलोकित होता है कि कक्षा में जो प्रश्न पूछा जाता है वह सामान्यतः स्मृति आधारित प्रश्न ही होता है न कि छात्रों के चिंतन को उद्बोधित करने वाला।

सुझाव

- उच्च शिक्षा स्तर पर कार्यरत अध्यापकों को छात्रों से सहज संबंध बनाने के लिए प्रशिक्षण दिया जाए।
- शिक्षकों को छात्रों को स्वयं सीखने के लिए उद्बोधित करना चाहिए।
- शिक्षकों द्वारा कक्षा अनुशासनात्मक वातावरण के निर्माण के लिए उचित शिक्षण विधि को अपनाया जाना चाहिए।
- शिक्षकों को अपने विषय तथा सामान्य शिक्षण दक्षता में और अधिक दक्ष होने के लिए सेवाकालीन प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए।
- कक्षा में शिक्षकों व छात्रों का अनुपात उचित हो ताकि शिक्षक छात्रों से प्रभावी ढंग से सम्प्रेषण कर सकें।
- शैक्षणिक संस्थानों में दक्ष और योग्य शिक्षकों की नियुक्ति की जानी चाहिए।

संदर्भ

अग्रवाल, जे. पी. 1992, एजुकेशन पॉलिसी इन इंडिया.

जेठी, आर. कुमार, वी. 2007 ए सोसिंग इफेक्टिवनेस ऑफ टीचिंग थ्रो स्टूडेंट रेटिंग-ए स्टडी, यूनिवर्सिटी न्यूज, वॉल्यूम-45, नई दिल्ली.

तिवारी, जी. एन. 2001 ए स्टडी ऑफ टीचर्स कॉम्पेटेन्सी एण्ड ट्रेनिंग नीड्स ऑफ प्राइमरी स्कूल टीचर्स ऑफ इलाहाबाद डिस्ट्रिक्ट, अप्रकाशित लघु शोध प्रबंध, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद.

नसीमा, सी. 2006 ट्रेनिंग नीड्स ऑफ कॉलेज टीचर्स ए सर्वे, अलीगढ़. मुस्लिम विश्वविद्यालय में यू.जी.सी. द्वारा प्रतिपादित सेमिनार प्रोफेशनलिज्म इन हायर एजुकेशन में प्रस्तुत प्रपत्र.

पंडा, वी. एन. और आर.सी. मोहन्ती, 2003 हाऊ टू वक्रिंग ए काम्पेटेंट, सक्सेसफुल टीचर, डिस्कवरी पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली.

भाटिया, आर. 2006 वैल्यू एजुकेशन इन टीचर्स एजुकेशन इश्यू ऑफ कन्सर्न, यूनिवर्सिटी न्यूज वॉल्यूम 44, ए.आई. यू., नई दिल्ली.

रामचन्द्राकर, के. और निलावर, एस. एस. 1997 परसिड्ड ट्रेनिंग नीड्स ऑफ कॉलेज टीचर्स, पंडा द्वारा (सम्पादित) स्टॉफ डेवलपमेंट इन हायर एण्ड डिस्टेंस एजुकेशन, प्रकाशन अरावली बुक इंटरनेशनल, नई दिल्ली.

वोस. एस. 2005 इनहेंसिंग प्रोफेशनलिज्म इन टीचर- इन एक्सप्लोरेसन, न्यू फ्रंटियर इन एजुकेशन, वॉल्यूम-35, अक्टूबर, 2005.

शर्मा, आर. ए. 2005 एनालिसिस क्लास रूम टीचर बीहैवियर, टीचर एजुकेशन, लॉयल बुक डिपो, मेरठ.

शर्मा, वी. एम. 2004 टीचर ट्रेनिंग एण्ड एजुकेशन रिसर्च, कॉमन वेल्थ पब्लिशर, नई दिल्ली.

शर्मा, जे. पी. 2006 ट्रेनिंग एण्ड डेवलपमेंट ऑफ द एकेडमिक स्टॉफ- ए स्टडी, यूनिवर्सिटी न्यूज, नई दिल्ली.

पाठ्यक्रम अनकही

‘जो कही सो कही पर कुछ अनकही भी रही’

अनीता गुप्ता*

मनीषा मिनोचा**

कमजोर नींव वाली इमारत जल्दी धराशायी हो जाती है। नर्सरी शिक्षण प्रशिक्षण कार्यक्रम शिक्षा की आधारशिला है, प्रथम सोपान है। यदि यह अपने आप में मजबूत नहीं होगी तो शिक्षा अपने उद्देश्य से भटक जाएगी। इस नाते शिक्षा की महत्त्वपूर्ण कड़ी शिक्षक स्वयं दिशाहीन होगा। ऐसी स्थिति में स्वयं मार्गविहीन शिक्षक छात्रों का निर्देशन भला किस प्रकार कर पायेगा? अतः नर्सरी शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम के पाठ्यक्रम को सत् गतिमान समय की मांग के अनुरूप ढालना आवश्यक है।

सम्पूर्ण शिक्षा प्रक्रिया में नर्सरी शिक्षक का एक विशेष स्थान है क्योंकि नर्सरी शिक्षा शैक्षिक प्रक्रिया की आधारशिला है। इस नाते नर्सरी शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम की भूमिका अधिक संवेदनशील है। नर्सरी शिक्षक प्रशिक्षक कार्यक्रम का पाठ्यक्रम यदि समसामयिक आवश्यकताओं के अनुरूप होगा तो जो शिक्षक इस पाठ्यक्रम द्वारा तैयार किए जाएंगे जो छात्रों का सही मायने में विकास कर पाएंगे?

प्रस्तुत लेख लेखिकाओं के अपने कई सालों के शिक्षक प्रशिक्षण के अनुभव व पाठ्यक्रम के विश्लेषण पर आधारित है। यह पाठ्यक्रम दिल्ली

प्रदेश के उन नर्सरी शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों में पढ़ाया जा रहा है जो एस.सी.ई.आर.टी. दिल्ली द्वारा मान्यताप्राप्त हैं। यह पाठ्यक्रम लगभग 1992 में लागू हुआ था। आज तक इस पाठ्यक्रम में कोई विशेष मूलभूत बदलाव नहीं आया है। केवल प्रारम्भ में यह सत्रीय था परन्तु अब सालाना हो गया है।

प्रस्तुत लेख में इस पाठ्यक्रम के कुछ मुख्य बिन्दुओं/मुद्दों की चर्चा की गई है।

कम्प्यूटर

यह कहना गलत न होगा कि वर्तमान युग में कम्प्यूटर से परिचित होना एक अध्यापक के

*प्रधानाचार्य, SHDCHE, बनी केम्प नजफगढ़, नई दिल्ली-110043

**व्यख्याता, SHDCHE, बनी केम्प नजफगढ़, नई दिल्ली-110043

लिए अत्यन्त आवश्यक है। कम्प्यूटर के प्रयोग व महत्त्व से सभी भलीभाँति परिचित हैं परन्तु ऐसी अवस्था में पूर्व प्राथमिक शिक्षक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में इस विषय को गम्भीरता से नहीं लिया गया है। इससे संबंधित कोई अध्याय और पर्चा पाठ्यक्रम में नहीं लगाया गया है। इंटरनेट पर मिलने वाली ज्ञानवर्धक विषयवस्तु की महत्ता से आज कौन परिचित नहीं है। इस लाभ से पूर्व प्राथमिक शिक्षक क्यों वंचित रहें?

बाल स्वास्थ्य

‘बाल स्वास्थ्य एवं पोषाहार’ पाठ्यक्रम में संक्रामक रोगों की जो सूची दी गई है वह बहुत पुरानी है जैसे मलेरिया, टाइफाइड, ऑत्रशोध आदि। इस सूची में अनेक समकालीन रोगों जैसे स्वाईन फ्लू, बर्ड फ्लू, डेंगू आदि को शामिल नहीं किया गया है। पाठ्यक्रम में बाल स्वास्थ्य के संबंध में कई प्रकरण हैं परन्तु इनमें आज के बच्चे की मुख्य समस्याओं का कोई जिक्र नहीं किया गया है। दूसरी तरफ वर्तमान समय में बच्चों में फास्ट फूड खाने की गलत आदतें विकसित हो रही हैं, जैसे मैगी ‘जब भूख लगे दो मिनट में तैयार’! ये बालकों के स्वास्थ्य को प्रभावित कर रही हैं। यहाँ तक कि इस विषय से संबंधित पूर्व प्राथमिक शिक्षकों को जो गृह विज्ञान प्रायोगिक कार्य करवाये जाते हैं उनमें अक्सर ‘फास्ट फूड’ बनाना सिखाया जाता है। जैसे चाऊमिन, बर्गर, ब्रेडरोल, समोसा, पकौड़े आदि।

टेलीविज़न और बच्चे

एक ओर टेलीविज़न देखने से बच्चों पर काफी कुप्रभाव पड़ रहा है मसलन आँखों की रोशनी

कम होना, अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों— खेलकूद, स्वास्थ्य गृहकार्य आदि को बच्चे नज़रअन्दाज कर देते हैं। टेलीविज़न का एक अन्य कुप्रभाव यह है कि आज के छात्र पहनावे संबंधित कई नये तौर तरीके सीखते जा रहे हैं। छोटे बच्चे भी मँहगी ब्रान्ड के कपड़े पहनना चाहते हैं। ऐसी प्रवृत्तियों को व्यवसायी बढ़ावा देते हैं। अतः एन. टी.टी. पाठ्यक्रम में यह आवश्यक है कि ऐसे प्रकरण जोड़े जाए जिनमें अध्यापकों को सिखाया जाए कि वह छात्रों को खाली समय का किस तरह उपयोग करें, इसके बारे में निर्देशन दे पाएँ एवं शिक्षक इस तरह पनपती प्रवृत्तियों को निरुत्साहित कर पाए।

सैद्धान्तिक पक्ष

एन.टी.टी.पाठ्यक्रम के अन्य पर्चे ‘बाल विकास’ की चर्चा करें तो जो भावनात्मक विकास संबंधित प्रकरण दिया गया है, वह केवल विकास के सैद्धान्तिक पहलुओं को उभारता है। आज जो बच्चों की आधुनिक समस्याएँ हैं, जैसे—अत्यधिक प्रतियोगिता की भावना, असुरक्षा की भावना, एकाकी परिवारों की वजह से निराशावाद की भावना का जन्म लेना आदि, कहीं नज़र नहीं आती। दूसरी तरफ सामाजिक विकास की चर्चा करें तो उसमें भी अनेक समकालीन सामाजिक समस्याओं को नज़र अन्दाज कर दिया गया है। वहाँ भी केवल सैद्धान्तिक पक्ष ही दृष्टिगोचर होता है। वर्तमान युग की जो व्यवहारिक जरूरतें हैं, जैसे – सहयोग की भावना, जातिवाद व साम्प्रदायिकता की भावना का अन्त आदि, ऐसे विषयों से संबंधित प्रकरण पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना नितान्त आवश्यक है।

पुरानी श्रवण सामग्री

एक अन्य पाठ्यविषय 'कार्यक्रम आयोजन' में पाते हैं कि वहाँ पर जिन सुनने की विधियों या उपकरणों की सूची दी गई है वह भी अत्यन्त पुरानी है जैसे कैसेट, टेपरिकार्डर आदि। वर्तमान कालीन आधुनिक उपकरणों, डीवीडी, सीडी, कम्प्यूटर आदि का समावेश नहीं किया गया है।

प्रशासनिक त्रुटियाँ

उपरोक्त चर्चा तो एन.टी.टी. कार्यक्रम के पाठ्यक्रम से संबंधित है। यहाँ कुछ अन्य त्रुटियों का वर्णन भी अनिवार्य है। प्रशासनिक अनियमितताओं व लापरवाहियों की वजह से भी एन.टी.टी. का निर्धारित पाठ्यक्रम काफी प्रभावित होता है। उदाहरणतः पाठ्यक्रम जल्दबाजी में करवाना पड़ता है और समयानुसार पूरा नहीं हो पाता। फलस्वरूप एन.टी.टी. कार्यक्रम की व संस्थाओं की अवहेलना की जाने लगी है। कहा जाता है कि 'अच्छी शुरुआत आधे काम का अन्त है।' यहाँ पर आरम्भ ही अन्तहीन-सा लगता है तो अन्त का तो कहना ही क्या।

- सर्वप्रथम तो इस कार्यक्रम में दाखिले ही समयानुसार नहीं होते। लगभग कई सालों से दाखिले लगातार विलम्ब से हो रहे हैं।

- दूसरे परीक्षा परिणाम का समय पर घोषित न होना विद्यार्थियों को कई प्रकार की परेशानियों में डाल देता है।
- तीसरे उच्च अधिकारियों के तबादलों व प्रशासनिक कमियों की वजह से प्रमाण-पत्र व अंक तालिकाओं का विलम्ब से मिलना। कई बार तो ऐसा भी हुआ है कि 2004, 2007 का प्रमाण पत्र प्राप्त हो गया लेकिन 2005, 2006 का नहीं। इसका कारण उच्च अधिकारियों के तबादलों की वजह से हस्ताक्षर न होना बताया गया।

- एक अन्य सबसे बड़ी त्रुटि जो नज़र आती है यह है कि नर्सरी शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों की सुचारू रूप से देखरेख व निर्देशन का न होना।

उपरोक्त वर्णित सभी पाठ्यक्रम संबंधी व प्रशासनिक त्रुटियों को देखते हुए अन्ततः हमारा यही सुझाव है कि एन.टी.टी. पाठ्यक्रम को समकालीन जरूरतों के मुताबिक ढालना चाहिए व इसका एक बार पुनरावलोकन होना आवश्यक है। क्योंकि उपरोक्त सभी कमियाँ व आवश्यकताएँ चिंता का विषय हैं। पूर्व प्राथमिक शिक्षा, शिक्षा की शुरुआत है। अगर नींव ही कमजोर होगी जो उस पर बनने वाले भवन का आप स्वयं अन्दाजा लगा सकते हैं।

NCERT EDUCATIONAL JOURNALS

Revised Rates w.e.f. 1.1.2009

<i>Title Single</i>	<i>Annual Copy</i>	<i>Subscription</i>
School Science A Quarterly Journal for Secondary Schools	Rs 55.00	220.00
Indian Educational Review A Half-Yearly Research Journal	Rs 50.00	100.00
Journal of Indian Education A Quarterly Journal of Education	Rs 45.00	180.00
भारतीय आधुनिक शिक्षा (त्रैमासिक) (<i>BharatiyaAadhunik Shiksha</i>) A Quarterly Journal in Hindi	Rs 50.00	200.00
Primary Teacher A Quarterly Journal for Primary Teachers	Rs 65.00	260.00
प्राथमिक शिक्षक (त्रैमासिक) (<i>Prathmik Shikshak</i>)A Quarterly Journal in Hindi for Primary Teachers	Rs 65.00	260.00
Indian Educational Abstracts A Half-yearly Journal	Rs 75.00	150.00

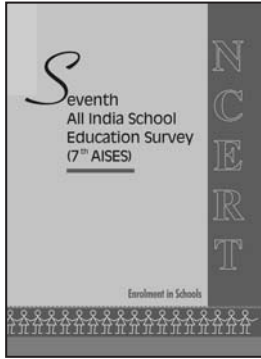
For further details please contact :

The Chief Business Manager
Publication Department, NCERT
Sri Aurobindo Marg
New Delhi 110 016

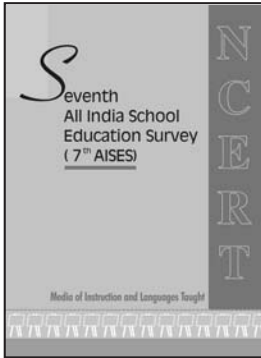


एन सी ई आर टी
NCERT

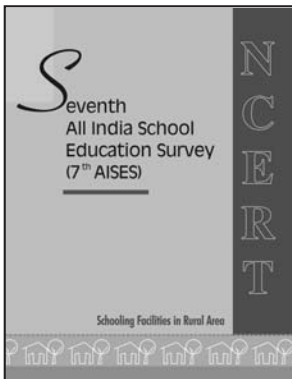
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING



Seventh All India School Education Survey (7th AISES)
Enrolment in Schools
Rs 250.00/386 pp



Seventh All India School Education Survey (7th AISES)
Media of Instruction and Languages Taught
Rs 135.00/200 pp



Seventh All India School Education Survey (7th AISES)
Schooling Facilities in Rural Area
Rs 165.00/238 pp

अधिक जानकारी के लिए कृपया www.ncert.nic.in देखिए अथवा कॉपीराइट पृष्ठ पर दिए गए पतों पर व्यापार प्रबंधक से संपर्क करें।

एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रकाशित अन्य
प्रश्न प्रदर्शिकाएँ

- प्रश्न प्रदर्शिका, गणित - कक्षा 10
- प्रश्न प्रदर्शिका, जीव विज्ञान - कक्षा 11
- प्रश्न प्रदर्शिका, भौतिकी - कक्षा 11
- प्रश्न प्रदर्शिका, गणित - कक्षा 11
- प्रश्न प्रदर्शिका, गणित - कक्षा 12

